

जो व्यक्ति पूरी तरह 'मैं' में डूबा है उसमें कोई जागृति नहीं हो सकती। उसकी रुचि ही नहीं है। वह आपको सुनेगा तक नहीं। वह आपको तभी सुनेगा जब आप उससे कुछ वादा करेंगे—स्वर्ग का, ज्यादा फायदे, ज्यादा पैसे का। या फिर नरक, भय वगैरह की बातें करेंगे। वह कुछ पाने के लिए ही कुछ करेगा। तो जिस आदमी में फायदे की, कुछ हासिल करने की चाहत है, वह अपरिपक्व है।

-जे. कृष्णमूर्ति



## जे. कृष्णमूर्ति परिसंवाद

वर्ष : 8 अंक : 3  
मार्च 2014

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, वाराणसी की त्रैमासिक हिंदी पत्रिका  
सितंबर, दिसंबर, मार्च एवं जून में प्रकाशित

संपादक : चैतन्य नागर

सह संपादक : मुकेश, संपादन सहयोग : संजीव कुमार

पृष्ठ संख्या

गुरु की जरूरत ही क्या है?	5
अपने छोटे घेरे से बाहर आएँ	36
विचार की परंपरा	44

---

वार्षिक शुल्क : रु. 150.00  
पांच वर्ष के लिए : रु. 600.00 दस वर्ष के लिए रु. 1000.00

परंपराओं की  
क्या  
जड़ें हैं?

धर्म के क्षेत्र में एक तो मुख्य धारा की परंपरा रही है और दूसरी रही है इस परंपरा के खिलाफ खड़ी बागी परंपरा। तथाकथित आम आदमी को समझ आने वाली परंपराएं और दूसरी ओर बड़ी बारीकी से सोचने-समझने वाले बुद्धिजीवियों के दार्शनिक, गूढ़ विचारों की परंपराएं। और भी कई स्तर पर परंपराएं सक्रिय रहती हैं हमारे सामाजिक-व्यक्तिगत-राजनैतिक-धार्मिक जीवन में। सदियों पुरानी परंपराएं, अतीत की पूरी ताकत के साथ, और अभी-अभी बीते पल की परंपरा। परंपराओं की इस भीड़ के बीच ही हम जीते-चलते हैं—अपने रिश्तों को जीते हैं—लोगों के साथ, विचारों के साथ, और चीजों के साथ। खुद अपने साथ भी हमारे रिश्तों की बनावट, उनकी दिशा, ये परंपराएं ही तय करती हैं।

कृष्णमूर्ति की शिक्षाएं इन परंपराओं पर लगातार चोट पहुंचाती हैं। स्थूल तौर पर और उसके सूक्ष्मतरंग रूप यानी स्वयं विचार पर भी जो संस्कारों से बंधे मन की परंपरा भर है। सोचना, किसी विशेष तरीके से सोचना, किसी एक खास ढंग से सोचना।

परंपराओं पर कृष्णमूर्ति का प्रहार किसी शारीरिक प्रहार की तरह है—

बौखलाने वाला, तिलमिला देने वाला। कृष्णजी के परिसंवाद का यह अंक इसी प्रश्न पर केंद्रित है। वेदांत का प्रतिनिधित्व करने वाले स्वामी वैकटेशानंद के साथ एक लम्बी बातचीत और फिर तंत्र से जुड़ी धारणाओं पर कृष्णजी के विचार व्यक्त करती पुपुल जी के साथ उनकी वार्ता।

कैसे ये बातें जिन्हें हम सदियों से मानते चले आये हैं, हमें ज़िन्दगी की उस ख़ूबसूरती से अलग कर रही हैं जो साफ-साफ देखने और सुनने भर से भी हमें मिल सकती है। सही सवाल उठा कर हम उसकी एक झलक पा सकते हैं। कृष्णमूर्ति लगातार बुनियादी सवालों और उस ख़ूबसूरती की तरफ इशारा कर रहे हैं।

परिसंवाद का अगला अंक इसी कड़ी को आगे बढ़ाएगा और उसमें कृष्णमूर्ति रूबरू होंगे कुछ बौद्ध दार्शनिकों और चिंतकों के साथ और यह प्रश्न उठाएंगे कि कैसे सत्य और आपके बीच में किसी का होना भी एक दीवार है, और वह दीवार हमने ही बनाई है—किसी व्यक्तिगत और सामूहिक बेहोशी के क्षण में।



गुरु की ज़रूरत  
ही क्या है?

स्वामी वेंकटेशानंद : कृष्णजी, मैं यहां ऐसे आया हूँ जैसे एक विनयशील खोजी गुरु के पास आता है। व्यक्ति-पूजा की दृष्टि से नहीं, बल्कि गुरु शब्द का जो सही शाब्दिक अर्थ है उस भाव से, यानी अंधकार को, अज्ञान को मिटाने वाला। 'गु' का अर्थ है अज्ञान का अंधकार तथा 'रु' का अर्थ है मिटाने वाला, हटाने वाला। इसलिए गुरु वह प्रकाश है जो अंधकार को दूर करता है और इस वक्त आप मेरे लिए वह प्रकाश हैं। यहां सानेन में हम एक टेंट के नीचे बैठते हैं, जैसे कि बुद्ध अपने भिक्षुओं को संबोधित कर रहे हों, या दशरथ के दरबार में वसिष्ठ राम को उपदेश दे रहे हों। हमें उपनिषदों में ऐसे गुरुओं के कुछ उदाहरण मिलते हैं। पहले वरुण थे, एक गुरु। वह अपने शिष्यों को मात्र इन शब्दों से प्रेरित करते थे : “तपसा ब्रह्म...तपो ब्रह्मेति”। “ब्रह्म क्या है— मुझसे मत पूछो।” तपो ब्रह्म, अर्थात् तपस्, संयम या अनुशासन ही—या जैसा कि आप प्रायः कहते हैं, “पता लगाइए”— ही ब्रह्म है, और शिष्य को खुद ही उस सत्य का पता लगाना होता है, भले ही वह अनेक स्तरों से गुजरे। याज्ञवल्क्य और उद्दालक ने और अधिक सीधा तरीका अपनाया। अपनी पत्नी मैत्रेयी को शिक्षित

करने हेतु याज्ञवल्क्य ने नेति-नेति विधि का प्रयोग किया। ब्रह्म का आप सीधे वर्णन नहीं कर सकते हैं, लेकिन जब आप सब कुछ हटा देते हैं तो जो बचा रहता है वही यह है। जैसा कि आप उस दिन कह रहे थे कि प्रेम को बताया नहीं जा सकता—कि “यह प्रेम है”—किंतु जो कुछ भी प्रेम नहीं है, उसे हटाने पर उसको जाना जा सकता है। उद्दालक ने अपने शिष्यों को सत्य का दर्शन कराने के लिए कई सादृश्यों, उदाहरणों का प्रयोग किया और फिर ‘तत्त्वमसि’ के प्रसिद्ध कथन में उनको समेट दिया। दक्षिणामूर्ति ने मौन एवं चिन्मुद्रा के द्वारा अपने शिष्यों को उपदेश दिया। कहा जाता है कि सनतकुमार उनसे उपदेश लेने के लिए गये। दक्षिणामूर्ति बस मौन रहे और चिन्मुद्रा का संकेत किया; शिष्यों ने उनकी ओर देखा भर, और संबोधि को उपलब्ध हो गए। ऐसा माना जाता है कि सत्य का बोध गुरु की मदद के बिना नहीं हो सकता। ज़ाहिर है कि जो लोग यहां हर साल आते हैं, उन्हें अपनी खोज में भरपूर मदद मिलती है। अब, आपके अनुसार गुरु की, उद्बोधक की या एक जगाने वाले की क्या भूमिका होती है?

कृष्णमूर्ति : सर, अगर आप गुरु शब्द का इस्तेमाल उसके शास्त्रीय अर्थ में कर रहे हैं जो ‘अंधकार को, अज्ञान को, हटाने वाला’ है, तो क्या कोई दूसरा, चाहे वह कुछ भी हो—ज्ञानी या मूर्ख—किसी के भीतर के इस अंधकार को मिटाने में सचमुच मदद कर सकता है? मान लीजिए, एक व्यक्ति अज्ञानी है और आप उसके गुरु हैं—अंधकार को हटाने वाले अर्थ में, दूसरे के भार को वहन करने वाले, संकेत करने वाले अर्थ में—क्या ऐसा गुरु दूसरे की मदद कर सकता है? या यूँ कहिए कि क्या वह गुरु दूसरे के अंधकार को हटा सकता है?—सैद्धांतिक के रूप से नहीं, बल्कि वास्तव में। यदि आप किसी के गुरु हैं, तो क्या आप उसके अंधकार को, अज्ञान को मिटा सकते हैं; किसी और के लिए उसके अंधकार को हटा सकते हैं? यह जानते हुए कि वह दुखी है, भ्रमित है, उसके पास इतना दिमाग नहीं है, इतना प्रेम नहीं है, या वह पीड़ा में है, क्या आप इस सबको दूर कर सकते हैं? या उसको स्वयं ही अपने ऊपर ज़बरदस्त काम करना होगा? आप इशारा कर सकते हैं, आप कह सकते हैं, “देखो, उस

दरवाजे से होकर जाओ”, लेकिन शुरू से अंत तक का सारा कार्य उसे खुद ही करना होगा। अगर आप कहते हैं कि दूसरा आपकी मदद नहीं कर सकता तो इस शब्द का जैसा अर्थ माना जाता है, उस अर्थ में आप गुरु नहीं हैं।

स्वामीजी : सारी बात ‘अगर’ और ‘लेकिन’ पर आकर ठहर जाती है। दरवाजा वहां है। मुझे उससे गुजरना पड़ेगा। लेकिन मुझे पता नहीं है कि दरवाजा कहां पर है। आप संकेत करके इस अज्ञान को मिटाते हैं।

कृष्णमूर्ति : पर चलना तो मुझे ही होगा। सर, आप गुरु हैं, और दरवाजे की तरफ इशारा करते हैं। आपने अपना काम पूरा कर दिया।

स्वामीजी : तो अज्ञान का अंधकार हट गया।

कृष्णमूर्ति : नहीं, आपका काम पूरा हो गया; और अब यह मेरे ऊपर है कि मैं उठूं, चलूं और यह देखूं कि चलने में क्या-क्या शामिल है। मुझे यह सारा काम खुद ही करना होगा।

स्वामीजी : बिलकुल सही है।

कृष्णमूर्ति : इसलिए आप मेरे अंधकार को नहीं मिटाते।

स्वामीजी : मुझे क्षमा करें, लेकिन मुझे मालूम नहीं कि इस कमरे से कैसे बाहर जाया जाए। मुझे मालूम ही नहीं है कि किसी दिशा में एक दरवाजा है भी, और वह गुरु इस अज्ञान के अंधकार को मिटाता है। और तब मैं बाहर निकलने के लिए जरूरी कदम उठाता हूं।

कृष्णमूर्ति : सर, जरा इस बारे में स्पष्ट हो लिया जाए। अज्ञान का अर्थ है समझ का अभाव, अथवा अपने बारे में समझ का अभाव—यहां बड़े स्व या छोटे स्व की बात नहीं हो रही। वह द्वार ‘मैं’ ही है जिससे होकर मुझको जाना है। वह ‘मैं’ के बाहर नहीं है। यह उस रंगे-पुते दरवाजे की तरह वास्तविक दरवाजा नहीं है। यह दरवाजा मेरे ही अंदर है जिससे होकर मुझे गुजरना है।

स्वामीजी : बिलकुल सही।

कृष्णमूर्ति : गुरु के तौर पर तब आपका काम पूरा हो जाता है। आप खास नहीं बन जाते। मैं आपके गले में मालाएं नहीं डालता। सारा काम मुझे ही करना है। आपने मेरे अज्ञान के अंधकार को नहीं हटाया है। आपने तो बस मुझे इस बात का संकेत किया है : “आप ही वह द्वार हैं जिससे होकर आपको खुद ही गुजरना पड़ेगा”।

स्वामीजी : लेकिन कृष्णजी, आप यह तो मानेंगे कि यह संकेत करना जरूरी था?

कृष्णमूर्ति : हां, बिलकुल। मैं संकेत करता हूं, मैं ऐसा करता हूं। ऐसा हम सभी करते हैं। मैं रास्ते में किसी आदमी से पूछता हूं, “क्या आप मुझे सानेन की तरफ जाने वाला रास्ता बताएंगे”, और मुझको वह बता देता है; लेकिन मैं वहां रुककर अपनी श्रद्धा नहीं प्रकट करने लगता। यह नहीं कहता “हे भगवान! आप तो महानतम व्यक्ति हैं!” यह सब तो बड़ा बचकाना है।

स्वामीजी : धन्यवाद, सर। गुरु के प्रश्न से नजदीक से जुड़ा हुआ प्रश्न है कि अनुशासन क्या है, जिसे आपने सीखने के रूप में बताया है। जिज्ञासुओं की योग्यता या परिपक्वता के आधार पर वेदान्त उनका वर्गीकरण करता है, और सीखने के लिए सही तरीके का सुझाव देता है। सबसे गहरा बोध रखने वाले शिष्य को मौन में उपदेश दिया जाता है, या जगाने वाले किसी छोटे शब्द, जैसे ‘तत्त्वमसि’ के द्वारा। ऐसे शिष्य को उत्तमाधिकारी कहा जाता है। सामान्य काबिलियत के विद्यार्थी को विस्तृत शिक्षा दी जाती है। ऐसे जिज्ञासु को मध्यमाधिकारी कहा जाता है। जो कमअक्ल है, उनका कथा-कहानियों, कर्म-कांड आदि के ज़रिये मनोरंजन किया जाता है, इस उम्मीद से कि उनमें परिपक्वता आए। ऐसे जिज्ञासु को अधमाधिकारी कहा गया है। शायद आप इस पर कुछ कहना चाहेंगे?

कृष्णमूर्ति : हां, सबसे ऊपर, फिर जो बीच वाले हैं और जो सबसे नीचे है। इसका मतलब है सर, कि हमें यह पता करना होगा परिपक्वता से हमारा मतलब क्या है।

स्वामीजी : क्या मैं इसे स्पष्ट करूं? उस दिन आपने कहा था, “पूरा संसार जल रहा है, आपको इसकी गंभीरता का अहसास होना



चाहिए।” और इस बात से मुझे ऐसा लगा जैसे मुझ पर बिजली गिर पड़ी हो—इस सच्चाई को समझने में भी। लेकिन लाखों लोग ऐसे होंगे जिनको इसकी परवाह तक नहीं है, उनकी इसमें कोई दिलचस्पी ही नहीं है। उन लोगों को अधम, निम्नतम, कहा जाएगा। और भी हैं, जैसे हिप्पी वगैरह, जो इन बातों के साथ खेलते हैं और जिनको किस्से-कहानियां सुनाकर समझाया-बुझाया जा सकता है। वे कहते हैं कि “हम तो दुखी हैं”, या “हमको पता है समाज बेढंगा, बेतरतीब है, हम तो एल.एस.डी. लेंगे”, ऐसी तमाम बातें। और कुछ ऐसे लोग भी हो सकते हैं जिनको यह बात, कि संसार जल रहा है, समझ में आ जाए, और यह उनको उसी समय जगा दे। ये सारे लोग हमें हर जगह मिल जाएंगे। इन लोगों के साथ क्या किया जाए?

कृष्णमूर्ति : उन लोगों के साथ क्या किया जाए जो कि बिलकुल ही अपरिपक्व हैं, और जो थोड़े परिपक्व हैं, और वे जो स्वयं को परिपक्व मानते हैं?

स्वामीजी : ठीक।

कृष्णमूर्ति : यह जानने के लिए हमें यह समझना होगा कि परिपक्वता के क्या मायने हैं। आप क्या सोचते हैं, परिपक्वता क्या है? क्या यह उम्र पर, समय पर निर्भर करती है?

स्वामीजी : नहीं।

कृष्णमूर्ति : तो इस बात को हम खारिज कर सकते हैं। समय, उम्र का परिपक्वता से कुछ लेना-देना नहीं है। किसी विद्वान और बौद्धिक रूप से खूब काबिल व्यक्ति की परिपक्वता का भी प्रश्न उठता है।

स्वामीजी : नहीं, वह शब्दों के साथ खेल सकता है, उनको तोड़-मरोड़ सकता है।

कृष्णमूर्ति : तब इसको भी हम खारिज कर देते हैं। फिर आप किसे परिपक्व, पका हुआ आदमी मानेंगे?

स्वामीजी : उस व्यक्ति को जो अवलोकन कर सके।

कृष्णमूर्ति : ठहरिये। जाहिर है कि जो मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर जा रहा है, उसे एक ओर कर दिया जाए; जो बौद्धिक, धार्मिक या

भावुक है उसे भी। अगर हम यह सारा कुछ बाहर कर दें, तो हम कह सकते हैं कि परिपक्वता का संबंध स्व-केंद्रित न होने से है। तो, परिपक्वता का अर्थ हुआ 'मैं' का न होना।

स्वामीजी : विखंडन शब्द बेहतर रहेगा।

कृष्णमूर्ति : 'मैं' जो कि खंड उत्पन्न करता है। अब, उस आदमी से आप कैसे पेश आएंगे? और उस आदमी से, जो कि आधे-आधे में बँटा हुआ है, 'मैं' और 'मैं नहीं', यानी जो दोनों के साथ खेल रहा है? और फिर उसको जो कि पूरी तरह 'मैं' ही है, जिसे इसी में मजा आता है? इन तीनों के साथ आप कैसे पेश आएंगे?

स्वामीजी : इन तीनों को आप कैसे जगाएंगे?—समस्या यही है।

कृष्णमूर्ति : ठहरें; जो व्यक्ति पूरी तरह 'मैं' में डूबा है उसमें कोई जागृति नहीं हो सकती। उसकी रुचि ही नहीं है। वह आपको सुनेगा तक नहीं। वह आपको तभी सुनेगा जब आप उससे कुछ वादा करेंगे—स्वर्ग का, ज्यादा फायदे, ज्यादा पैसे का। या फिर नरक, भय वगैरह की बातें करेंगे। वह कुछ पाने के लिए ही कुछ करेगा। तो जिस आदमी में फायदे की, कुछ हासिल करने की चाहत है, वह अपरिपक्व है।

स्वामीजी : बिलकुल सही।

कृष्णमूर्ति : यह चाहे निर्वाण हो, स्वर्ग हो, मोक्ष हो, कोई उपलब्धि हो, या संबोधि हो, कुछ भी चाहने वाला व्यक्ति अपरिपक्व है। अब, आप ऐसे आदमी के साथ क्या करेंगे?

स्वामीजी : उसको कहानियां सुनाइए।

कृष्णमूर्ति : नहीं, मैं उसको कहानियां क्यों सुनाऊँ, अपनी या आपकी कहानियां सुनाकर मैं उसे और भ्रम में क्यों डालूँ? उसे उसके हाल पर क्यों न छोड़ दूँ? वह सुनने वाला नहीं है।

स्वामीजी : यह तो क्रूरता होगी।

कृष्णमूर्ति : किसकी तरफ से क्रूरता? वह आपको सुनेगा ही नहीं। हम सच्चाई को देखें। आप मेरे पास आते हैं। मैं पूरी तरह से 'मैं' हूँ—अपने सिवा मुझे किसी से कोई सरोकार नहीं है। और आप

कहते हैं, “देखिए, आप संसार को बरबाद कर रहे हैं, इंसान के लिए आप कैसी मुसीबत पैदा कर रहे हैं”, और मैं कहता हूँ, आप कृपया यहां से चले जाएं। आप इसे चाहे जिस तरह कहें, कहानियों के माध्यम से, मीठी गोलियों के रूप में, लेकिन वह ‘मैं’ को बदलने नहीं जा रहा। यदि वह बदलता है तो वह बीच में आ जाता है— ‘मैं’ तथा ‘मैं नहीं’ के बीच। इसी को विकास कह देते हैं। जो व्यक्ति सबसे नीचे है वह बीच में पहुँच जाता है।

स्वामीजी : कैसे?

कृष्णमूर्ति : टकरा जाने से, आघात से। जीवन उसको बाध्य करता है, सिखाता है। युद्ध है, घृणा है; और आदमी खत्म हो जाता है। या वह किसी गिरजाघर, मंदिर की शरण में चला जाता है। ये सब उसके लिए फंदे हैं। वहां उसको कुछ भी समझ हासिल नहीं होती, उन जगहों पर यह नहीं कहा जाता, “ईश्वर के वास्ते, इस सबसे बाहर निकलिए।” बल्कि वहां यह कहा जाता है कि हम आपको वह देंगे जो आप चाहते हैं—यानी मनोरंजन, चाहे यह जीसस के नाम पर मनोरंजन हो, हिंदू मनोरंजन हो, बौद्ध मनोरंजन या मुस्लिम मनोरंजन, बस ईश्वर के नाम पर हम आपको कोई भी मनोरंजन मुहैया करा देंगे। तो वे लोग थोड़े-बहुत फेर-बदल के साथ, थोड़ी साज-सज्जा, बेहतर संस्कृति, बेहतर आवरण आदि के साथ, आपको उसी स्तर पर बनाए रखते हैं। यही हो रहा है। संसार अस्सी फीसदी ऐसे ही लोगों से बना है, जैसा कि आपने अभी कहा, या शायद नब्बे फीसदी।

स्वामीजी : आप क्या कर सकते हैं?

कृष्णमूर्ति : मैं इसमें कुछ और नहीं जोड़ूंगा, उसे किस्से-कहानियां नहीं सुनाऊंगा, उसका मनोरंजन नहीं करूंगा, क्योंकि बाकी लोग हैं जो उसका मनोरंजन करने में लगे हैं।

स्वामीजी : धन्यवाद।

कृष्णमूर्ति : इसके बाद मध्यम किस्म के लोग हैं, जो ‘मैं’ और ‘मैं नहीं’ के बीच में हैं, जो समाज सुधार में लगे हैं, यहां-वहां थोड़ी भलाई कर रहे हैं, लेकिन ‘मैं’ सदा क्रियाशील है। सामाजिक,

राजनीतिक, धार्मिक और हर तरीके से 'मैं' काम कर रहा है। किंतु थोड़ी सी शांति के साथ, थोड़े से सुसंस्कृत ढंग से। उससे आप कुछ देर बात कर सकते हैं, “देखिए, समाज सुधार अपनी जगह ठीक है, लेकिन यह आपको कहीं नहीं ले जाता।” इस तरह आप उससे कुछ बात कर सकते हैं। शायद वह आपको सुन भी ले। पहले वाला तो आपको बिलकुल भी नहीं सुनेगा। यह व्यक्ति आपको कुछ सुन भी लेगा, थोड़ा ध्यान भी दे देगा और शायद यह कहे कि यह कुछ ज्यादा ही गंभीर है, इसके लिए बहुत ही ज्यादा मेहनत की ज़रूरत है, और शायद वह अपने पुराने ढर्रे पर लौट जाए। हम उससे बात करेंगे और बस; वह क्या करना चाहेगा, यह उस पर निर्भर करेगा। अब, आप उस व्यक्ति के पास आते हैं जो 'मैं' के घेरे से बाहर निकल रहा है; उससे आप बात कर सकते हैं। वह आपको ध्यान से सुनेगा। तो आप तीनों से बात करते हैं, बिना यह भेदभाव किये कि कौन परिपक्व है और कौन अपरिपक्व। हम तीनों किस्म के लोगों से बातचीत करेंगे और यह उन पर छोड़ देंगे कि वे क्या करना चाहते हैं।

स्वामीजी : जिसकी दिलचस्पी नहीं होगी, वह बाहर चला जाएगा।

कृष्णमूर्ति : वह टेंट को छोड़कर चला जाएगा, इस कमरे से बाहर निकल जाएगा। यह उसका मामला है। वह चर्च जा सकता है, फुटबाल देखने या किसी और मनोरंजन के लिए जा सकता है। पर जैसे ही आप कहेंगे कि “आप अपरिपक्व हैं और मैं आपको सिखाऊंगा”, वह...

स्वामीजी : उत्साहित हो जाएगा।

कृष्णमूर्ति : ज़हर का बीज वहां पहले से ही है।

सर, यदि मिट्टी सही है तो बीज जड़ पकड़ लेगा। लेकिन ऐसा कहना, “आप परिपक्व हैं और आप परिपक्व नहीं हैं”, पूरी तरह गलत है। किसी को बताने वाला मैं कौन होता हूं कि वह अपरिपक्व है? यह तो उसको खुद पता लगाना होगा।

स्वामीजी : लेकिन क्या एक मूर्ख यह जान सकेगा कि वह मूर्ख है?

कृष्णमूर्ति : यदि कोई मूर्ख है तो वह आपको सुनेगा तक नहीं।

देखिये सर, हम अक्सर दूसरों की मदद करने के विचार से ही शुरू करते हैं।

स्वामीजी : हमारी पूरी बातचीत का आधार ही यही है।

कृष्णमूर्ति : चिकित्सकीय या तकनीकी जगत को छोड़ दिया जाए तो मैं समझता हूँ कि मदद करने का जो पूरा नज़रिया है, वह ठीक नहीं है। अगर मैं बीमार हूँ तो इलाज के लिए डॉक्टर के पास जाना ज़रूरी होगा। जबकि यदि मैं मानसिक तौर पर सोया हूँ तो मैं आपको कहां सुन पाऊंगा। अगर मैं आधी नींद में हूँ तो मैं आपको अपनी खालीपन की दशा और अपने मूड के हिसाब से सुनूंगा। इसलिए उस एक व्यक्ति से जो यह कहता है, “मैं सच में जगे रहना चाहता हूँ, मानसिक तौर से जागरूक रहना चाहता हूँ”, उससे आप बात कर सकते हैं। बात तो हम उन सभी से करते हैं।

स्वामीजी : धन्यवाद। इससे एक बड़ी गलतफहमी दूर हो जाती है। अकेले बैठे हुए मैंने आपकी बातों पर मनन किया। मैं अपने अंदर उठे इस सहज भाव को नहीं रोक पाया, “अहा, बुद्ध ने भी तो यही कहा था, या वसिष्ठ ने भी यही कहा था”, लेकिन तुरंत ही मैंने इसका अर्थ समझने के लिए शब्द-बिम्बों के पार जाने की कोशिश की। आप अर्थ खोजने-समझने में हमारी मदद करते हैं, हालांकि वह आपकी मंशा शायद न हो। वसिष्ठ और बुद्ध ने भी यही किया था। जिस प्रकार लोग उन महान लोगों के पास जाते थे, उसी तरह लोग यहां आते हैं। क्यों? मानव स्वभाव में ऐसा क्या है जो खोज करता है, टटोलता-टोहता है, किसी सहारे को कसकर पकड़ने की तलाश में रहता है? फिर भी, उनकी मदद न करना क्रूरता हो सकती है, किंतु यह तो और भी बड़ी क्रूरता होगी कि उनके सामने चीज़ें इतनी आसान बना कर पेश की जाएं कि उन्हें खुद कुछ करने की दरकार ही महसूस न हो। अब कोई क्या करे?

कृष्णमूर्ति : सवाल है कि लोगों को सहारे की जरूरत पड़ती ही क्यों है?

स्वामीजी : हां, और क्या उनकी मदद की जानी चाहिए या नहीं?

कृष्णमूर्ति : यानी कि—सहारे के लिए आपको उन्हें बैसाखी देनी

चाहिए या नहीं। यहां दो सवाल हैं। पहला, लोगों को बैसाखियों की ज़रूरत क्यों पड़ती है? और दूसरा यह कि क्या आप वह व्यक्ति हैं जो उनको सहारा दे सकते हैं?

स्वामीजी : क्या सहारा दिया जाना चाहिए या नहीं?

कृष्णमूर्ति : दिया जाना चाहिए या नहीं, और क्या आप उनकी मदद कर सकते हैं?—ये दो सवाल हैं। लोग सहारा क्यों चाहते हैं, लोग दूसरों पर क्यों निर्भर होना चाहते हैं, जीसस पर, बुद्ध पर या किन्हीं प्राचीन संतों पर, आखिर क्यों?

स्वामीजी : सबसे पहली बात कि कुछ है जो खोज रहा है। खोज अपने आप में सही लगती है।

कृष्णमूर्ति : क्या ऐसा है? या उन्हें इस बात का डर सता रहा है कि वह चीज़ नहीं मिल पाई जिसकी ओर संतों ने, महान लोगों ने इशारा किया है? या इस बात का डर कि हम कहीं कुछ गलत न कर बैठें, या हो सकता है हमें खुशी हासिल न हो, संबोधि या समझ या जो भी नाम उसे आप देना चाहें, वह हासिल न हो।

स्वामीजी : भगवद्गीता से क्या मैं एक सुंदर उद्धरण दे सकता हूँ? कृष्ण ने कहा : चार प्रकार के लोग मेरे पास आते हैं। वह जो निराशा में है; वह मेरे पास निराशा को दूर हटाने के लिए आता है। दूसरा वह जिसे जिज्ञासा है; वह बस यह जानना चाहता है कि ईश्वर क्या है, सत्य क्या है, और क्या स्वर्ग और नरक होते हैं। तीसरा वह जो कुछ धन चाहता है। वह भी ईश्वर के पास आता है तथा और धन पाने के लिए प्रार्थना करता है। इनके अतिरिक्त वह भी आता है जो ज्ञानी है, प्रज्ञावान है। वे सारे लोग अच्छे हैं क्योंकि वे सभी किसी न किसी तरह से ईश्वर की खोज में हैं। किंतु इन सबमें मुझे लगता है ज्ञानी सर्वोत्तम है। अतः खोज कई कारणों से हो सकती है।

कृष्णमूर्ति : जी हां, सर। ये दो सवाल हैं। सबसे पहला, हम खोजते क्यों हैं? इसके बाद, मानवजाति सहारे की मांग क्यों करती है? तो कोई खोज क्यों करता है, कुछ भी खोजने की आवश्यकता क्या है?

स्वामीजी : हम क्यों खोजते हैं—क्योंकि हमें किसी चीज की कमी महसूस होती है।

कृष्णमूर्ति : इसका मतलब क्या है? मैं दुखी हूँ और खुशी चाहता हूँ। खोज का यह एक ढंग है। संबोधि, एन्लाइटनमेंट क्या है मुझे नहीं मालूम, पर मैंने किताबों में इसके बारे में पढ़ा है और इसके प्रति मेरा आकर्षण है। मैं इसकी खोज करता हूँ। या मैं एक बेहतर नौकरी की तलाश करता हूँ क्योंकि उसमें ज्यादा पैसा है, फायदा है, ज्यादा मजा है। इन सभी में कुछ खोज है, तलाश है, चाहत है। मैं यह समझ सकता हूँ कि कोई आदमी बेहतर नौकरी की तलाश में है, क्योंकि समाज की अभी जो भयानक दशा है वह उसे ज्यादा पैसे, बेहतर नौकरी की तलाश में भटकने के लिए मजबूर करती है। लेकिन मानसिक रूप से, अंदरूनी तौर पर, मैं क्या खोज रहा हूँ? और यदि खोजते हुए मुझे कुछ मिल भी जाता है तो मैं कैसे जानूँगा कि यह सत्य ही है?

स्वामीजी : शायद खोज खत्म हो जाए।

कृष्णमूर्ति : ठहरें, सर। मुझे कैसे पता चलेगा? मैंने जो खोजा है, मुझे कैसे पता चलेगा कि यह सत्य है? मैं कैसे जानूँगा? क्या मैं कभी भी यह कह सकता हूँ, “यही सत्य है”? इसलिए, इसे मैं खोजूँ ही क्यों? तो वह क्या है जो मुझे खोजने के लिए विवश करता है? खोज की अपेक्षा, यह कहने की बजाय कि यही सत्य है, कहीं अधिक मूलभूत सवाल यह है कि वह क्या है जो मुझे खोजने के लिए मजबूर करता है? यदि मैं कहता हूँ, “यही सत्य है” तो इसका मतलब हुआ कि मुझे पहले से ही पता है कि सत्य क्या है। और अगर मुझे पहले से पता है तो यह सत्य नहीं है। यह कोई मृत, अतीत की चीज है जो मुझे बताती है कि वह सत्य है। कोई मरी हुई चीज मुझे नहीं बता सकती कि सत्य क्या है।

मैं खोजता क्यों हूँ? क्योंकि मैं बड़ी गहराई से दुखी हूँ, भ्रमित हूँ, मेरे भीतर बहुत अधिक पीड़ा है और मैं इससे निजात पाने का कोई रास्ता ढूँढ़ना चाहता हूँ। आप गुरु की हैसियत से, या संबोधि को उपलब्ध किसी व्यक्ति, या फिर किसी प्रोफेसर के नाते मेरे पास आकर कहते हैं, “देखो, बाहर निकलने का यह रास्ता है।” मेरी

खोज का मूल कारण यह है कि मैं अपनी घोर व्यथा, पीड़ा से बचना चाहता हूँ, और मैं मान लेता हूँ कि मेरे लिए दुख से बचकर निकलना संभव है, और वह संबोधि वहाँ है, या मुझमें है। क्या मैं इससे पलायन कर सकता हूँ? नहीं कर सकता, इस अर्थ में कि मैं उससे बच नहीं सकता, उसको रोक नहीं सकता, उससे भाग नहीं सकता; वह तो है ही। मैं जहाँ भी जाऊँगा वह वहाँ होगा। इसलिए मुझे बस यही पता लगाना है कि मेरे भीतर यह दुख आया क्यों है, मैं पीड़ा में क्यों हूँ। तब क्या यह एक खोज है? नहीं। अपनी पीड़ा के कारण का पता लगाना खोज करना नहीं है। यह कोई अन्वेषण भी नहीं है। यह कुछ ऐसा ही है कि मेरा पेट खराब है और मैं डॉक्टर के पास जाता हूँ और वह बताता है कि मैंने गलत ढंग का खाना खाया है।

तो मैं गलत ढंग का खाना खाने से परहेज करूँगा। यदि मेरे दुख-कष्ट का कारण मुझमें ही है, यह उन बाहरी हालात की देन नहीं है जिनमें मैं रहता हूँ, तब मुझे यह पता लगाना होगा कि मैं खुद इससे कैसे मुक्त हो सकता हूँ। गुरु के तौर पर आप यह संकेत कर सकते हैं कि बाहर निकलने का दरवाजा वहाँ पर है, लेकिन संकेत करने के साथ ही आपका काम खत्म हो गया। उसके बाद काम मुझे करना होगा, मुझे पता लगाना होगा कि मैं क्या करूँ, कैसे जिऊँ, कैसे सोच-विचार करूँ, जीने के इस तरीके का कैसे मुझे अहसास हो जिसमें कोई दुख नहीं है।

स्वामीजी : तब उस सीमा तक, उस बिंदु तक, मदद करना, संकेत करना, न्यायसंगत है।

कृष्णमूर्ति : न्यायसंगत नहीं, आप यह सहज ही करते हैं।

स्वामीजी : मान लीजिये वह आदमी कहीं अटक जाता है, आगे बढ़ते हुए वह उस मेज से टकरा जाता है...

कृष्णमूर्ति : उसको यह सीखना ही होगा कि वहाँ मेज है। उसको यह समझना होगा कि दरवाजे की तरफ बढ़ते वक्त रास्ते में बाधाएं आएंगी। यदि वह खोजबीन कर रहा है तो उसे पता चल जाएगा। लेकिन आप आकर बताने लगते हैं, “वहाँ दरवाजा है, और रास्ते



में मेज है, उससे टकराना मत”, आप उससे बच्चों जैसा बर्ताव कर रहे हैं और उसका हाथ पकड़कर दरवाजे तक ले जा रहे हैं। इसका कोई मतलब नहीं है।

स्वामीजी : तो उतनी मदद ठीक है, उतना संकेत करना भर उचित है?

कृष्णमूर्ति : अच्छे हृदय वाला कोई भी शालीन व्यक्ति यही कहेगा, “वहां मत जाइए, वहां खाई है।”

मैं एक दफा भारत में एक प्रसिद्ध गुरु से मिला। वह मुझसे मिलने आये थे। फर्श पर एक गद्दा था, और हमने उनसे आदरपूर्वक उस पर बैठने के लिए कहा—और वह आराम से उस गद्दे पर बैठ गये, गुरु की भंगिमा-भूमिका में, अपना दंड आगे रख लिया और बहस शुरू कर दी—यह सारा अभिनय देखने लायक था। उन्होंने कहा : मनुष्यों को गुरु की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि हम गुरुजन आम आदमी से बेहतर जानते हैं। उस आम आदमी को सारा जोखिम उठाने के लिए हम उसके हाल पर नहीं छोड़ सकते। हम उसकी मदद करेंगे। उनके साथ बातचीत करना नामुमकिन था क्योंकि उन्होंने यह मान लिया था कि वह ही सारा कुछ जानते हैं तथा बाकी सारे लोग अज्ञान में जी रहे हैं। दस मिनट के बाद ही वह बौखलाते हुए चले गये।

स्वामीजी : यह तो उन बातों में से एक है जिनके लिए कृष्णजी भारत में मशहूर हैं! हालांकि आपने यह सही कहा है कि आंख मूंदकर मत-मतांतरों, सिद्धांतों को मान लेना कितना निरर्थक है, फिर भी आप इनको बिना सोचे-समझे आनन-फानन में नकारने के लिए नहीं कहेंगे। परंपरा हालांकि एक अत्यंत गंभीर बाधा हो सकती है, लेकिन इसको समझना, इसके स्रोत को समझना शायद महत्त्वपूर्ण होगा, नहीं तो एक परंपरा को खत्म करने में हम एक दूसरी उतनी ही घातक परंपरा खड़ी कर लेंगे।

कृष्णमूर्ति : ठीक बात है।

स्वामीजी : तो आपके बारीक परीक्षण के लिए मैं कुछ पारंपरिक विश्वासों को रखना चाहूंगा ताकि हम यह पता लगा सकें कि कहां

और कैसे उनके 'नेक इरादे'—जैसा कि आप कहा करते हैं—नरक की ओर चले गए; उस खोल में जिसने हमें कैद कर लिया। योग की प्रत्येक शाखा ने इस दृढ़ विश्वास के साथ अपने नियम-अनुशासन बनाये थे कि यदि उनका ठीक ढंग से पालन किया जाए, तो दुख का अंत किया जा सकेगा। मैं उनको आपके सामने प्रस्तुत करना चाहता हूँ ताकि उन पर कुछ आप कह सकें।

पहला है कर्मयोग : यह धर्म अथवा नैतिक जीवन की अपेक्षा करता था और इसमें प्रायः वर्णाश्रम धर्म भी—जिसका इतना ज्यादा दुष्प्रयोग किया गया—आ जाता था। कृष्ण का यह वचन, “स्वधर्मं निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः”, ऐसा संकेत करता है कि यदि कोई अपनी इच्छा से आचरण के कुछ नियमों का पालन करे तो कुछ विशेष भावनाओं की मदद से उसका मन अवलोकन करने और सीखने के लिए मुक्त हो जाएगा। इस पर आप कुछ कहना चाहेंगे?—धर्म तथा नियम-अनुशासन की अवधारणा पर : “यह करिए”, “वह सही है”, “वह गलत है”...

कृष्णमूर्ति : वास्तव में जिसका अर्थ है कि सही आचरण के बारे में नियम-कानून बनाए गए हैं और अपनी इच्छा से मुझे उन्हें स्वीकार कर लेना है। कोई शिक्षक है जो नैतिक आचरण के बारे में नियम बनाता है, और मैं, जैसा कि आप कह रहे हैं, स्वेच्छा से उनको मान लेता हूँ। क्या स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करने जैसी कोई चीज़ होती है? और क्या शिक्षक को सही आचरण के संबंध में नियम आदि बनाने चाहिए—जिसका मतलब होगा कि वह एक परिपाटी, एक ढांचे, एक संस्कार का निर्माण कर रहा है? आप इसके खतरे को देख रहे हैं?—यानी एक संस्कारबद्धता की रचना करना जो एक सही आचरण को जन्म देगी और आपको स्वर्ग तक ले जाएगी।

स्वामीजी : यह एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू, जिसमें मेरी ज्यादा दिलचस्पी है, यह है कि यदि उसे स्वीकार कर लिया जाए, तो मानसिक उपकरण अवलोकन करने के लिए स्वतंत्र होगा।

कृष्णमूर्ति : मैं समझ रहा हूँ। नहीं, सर। मैं इसे क्यों स्वीकार करूँ? आप शिक्षक हैं। आप आचरण के नियम बनाते हैं। मुझे यह कैसे पता चले कि आप सही हैं? आप ग़लत भी हो सकते हैं। और मैं

आपकी अधिसत्ता, अर्थाँरिटी नहीं स्वीकार करूँगा। क्योंकि मैं यह देख रहा हूँ ये सारे व्यर्थ साबित हुए हैं। चाहे वह गुरुओं के हों, पुरोहितों के या चर्च के। इसलिए जब कोई नया शिक्षक आकर कुछ नये नियम बनाएगा तो मैं कहूँगा—“ईश्वर के लिए आप वही पुराना खेल खेलना बंद कर दें; मुझे यह मंजूर नहीं है।” और क्या स्वेच्छा से स्वीकार करने जैसी कोई चीज़ होती है—स्वेच्छा से, स्वतंत्र रूप से स्वीकार करना? या, मैं पहले से ही प्रभावित हूँ, क्योंकि आप एक शिक्षक हैं, आप महान हैं, और इस सबके अंत में, चेतन अथवा अवचेतन रूप से, आप मुझे कोई पुरस्कार दिलाने का भरोसा देते हैं। और यही वजह है मेरे ‘स्वेच्छिक’ स्वीकार की? स्वतंत्रतापूर्वक मैं इसे स्वीकार नहीं करता। यदि मैं स्वतंत्र हूँ तो मैं इसे कतई स्वीकार नहीं करता। तभी मैं जीता हूँ। सही तरीके से जीता हूँ।

स्वामीजी : तो अच्छाई भीतर से ही आनी चाहिए?

कृष्णमूर्ति : ज़ाहिर है, इसके अलावा यह कहां से आएगी? आप यह देखिये कि व्यवहार का अध्ययन कैसे किया जा रहा है है। उन लोगों का कहना है कि बाहरी परिस्थितियाँ, पर्यावरण, संस्कृति कुछ खास किस्म के बर्ताव को जन्म देते हैं। जिसका मतलब है कि यदि मैं साम्यवादी वातावरण में रहता हूँ, उसके शासन, धमकियों, यातनाशिविरो के साये में जीता हूँ, तो यह सब कुछ मुझसे एक खास किस्म का बर्ताव करवाता है। मैं एक मुखौटा ओढ़ लेता हूँ, डरा हुआ रहता हूँ, और मेरा व्यवहार एक खास तरीके का हो जाता है। दूसरी तरफ उन समाजों में, जो कमोबेश स्वतंत्र हैं, जहां इतने सारे कायदे-कानून नहीं हैं क्योंकि कोई उनमें विश्वास नहीं करता, जहां सब कुछ चलता है, वहां मैं जो मर्जी सो किया करता हूँ।

स्वामीजी : आध्यात्मिक दृष्टि से कौन सी स्थिति ज्यादा उपयुक्त होगी?

कृष्णमूर्ति : कोई भी नहीं। क्योंकि व्यवहार या सद्गुण ऐसी चीज़ है जिसको मैं खुद या मेरा समाज पोषित नहीं कर सकता। मुझे यह पता लगाना होगा कि कैसे ठीक ढंग से जिया जाता है। कुछ विशेष प्रकार के तरीकों को अपना लेना या किसी खास दिनचर्या के निर्जीव नियमों का पालन करना सद्गुण नहीं है। अच्छाई किसी रूटीन का

हिस्सा नहीं है। यदि मेरे शिक्षक के कहने पर मैं अच्छा हूँ तो इसका कोई मतलब नहीं है। इसलिए किसी गुरु द्वारा, किसी शिक्षक के बताए गए अच्छे आचरण को अपनी इच्छा से मान लेने जैसी कोई चीज़ नहीं होती है।

स्वामीजी : व्यक्ति को खुद ही उसका पता लगाना होगा।

कृष्णमूर्ति : तो फिर मुझे खोजबीन आरंभ करनी होगी। मैं देखना शुरू करता हूँ, पता लगाना शुरू करता हूँ कि जीना कैसे हो। मैं जी तभी सकता हूँ जब कोई भय न हो।

स्वामीजी : शायद मुझे इसे स्पष्ट कर देना चाहिए था। शंकर के अनुसार इसकी आवश्यकता सिर्फ नीचे के स्तर के लोगों के लिए होती है।

कृष्णमूर्ति : निम्न या उच्च क्या है? वे लोग जो परिपक्व हैं और जो परिपक्व नहीं हैं? शंकर या किसी के भी यह कहने पर कि “निम्न तथा उच्च लोगों के लिए अलग-अलग नियम बनाए जाएं”, बाकी लोग ऐसा करने लगते हैं। वे लोग शंकर की किताबें पढ़ते हैं, या कोई पंडित उन्हें पढ़ कर सुनाता है, और वे कहते हैं, “क्या अद्भुत बात है”, और उसके बाद वे अपने ढर्रे पर लौट जाते हैं। यह एक बिलकुल स्पष्ट तथ्य है। इटली में यही हो रहा है। वे पोप को बड़े ध्यान से दो-चार मिनट सुनते हैं और फिर अपने उसी रोज़मर्रा के ढर्रे पर लौट जाते हैं; किसी को कोई परवाह नहीं है, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। इसीलिए मैं यह पूछना चाहता हूँ कि ये तथाकथित शंकर, गुरु आदि आचरण के संबंध में नियम-कानून बनाते ही क्यों हैं।

स्वामीजी : ऐसा न किया जाए तो अव्यवस्था फैल जाएगी।

कृष्णमूर्ति : अव्यवस्था तो वैसे भी है। भयानक अव्यवस्था है। भारत में लोग हजार सालों से शंकर तथा तमाम शिक्षकों का अध्ययन करते रहे हैं। देखिए उनको!

स्वामीजी : शायद उनको लगता है कि कोई और विकल्प मुमकिन नहीं है।

कृष्णमूर्ति : विकल्प क्या है? उलझन, कन्फ्यूजन? उसी में तो वे रह रहे हैं। शंकर को समझने की बजाय क्यों न उसी उलझन को समझा जाए? अगर वे इसे समझ लें, तो इसे बदल सकते हैं।

स्वामीजी : शायद यह हमें 'भावना' के प्रश्न की ओर ले जाता है। इसमें थोड़ा-बहुत मनोविज्ञान भी शामिल है। कर्मयोग की साधना के साथ भगवद्गीता निमित्त भावना का उपदेश देती है। निस्संदेह भावना का अर्थ होना है और निमित्त भावना का अर्थ है ईश्वर अथवा उस अनन्त सत्ता के हाथों में एक अहंकाररहित उपकरण हो जाना। किन्तु इसका अर्थ उस प्रवृत्ति या भाव से भी लिया जाता है जो अपने आप को देखने में एक शुरुआती साधक की मदद करेगा, और फिर परिणामस्वरूप भावना उसके अस्तित्व में भर जाएगी। कम समझ रखने वाले लोगों के लिए शायद यह बहुत जरूरी हो; अथवा क्या अपने आप को धोखा देकर वह स्थायी रूप से भटका देगी? इसे हम कैसे कारगर बना सकते हैं?

कृष्णमूर्ति : सर, आपका सवाल क्या है?

स्वामीजी : भावना एक टेक्नीक है।

कृष्णमूर्ति : जिसका मतलब है एक प्रणाली, एक तरीका, जिसके अभ्यास के द्वारा आप अंततः संबोधि, एन्लाइटनमेंट तक पहुँच जाएंगे। आप ईश्वर या जो कुछ भी वह है, उस तक पहुँचने के लिए साधना करते हैं। जैसे ही किसी पद्धति का अभ्यास किया जाता है तो होता क्या है? मैं जब आपके द्वारा बतायी गयी पद्धति का रोज अभ्यास करता हूँ, तब क्या होता है?

स्वामीजी : एक मशहूर कथन है : जैसा आप सोचते हैं वैसे ही बन जाते हैं।

कृष्णमूर्ति : मैं यह सोचने लगता हूँ कि इस पद्धति का अभ्यास कर मैं संबोधि हासिल कर लूँगा। तब मैं रोज़ाना इस अभ्यास में लगा रहता हूँ। यानी, मैं और-और अधिक यांत्रिक बनता जाता हूँ।

स्वामीजी : किन्तु भावना तो है।

कृष्णमूर्ति : यांत्रिक दिनचर्या जारी रहती है, और साथ में यह भावना भी रहती है कि 'मुझे यह पसंद है', 'मुझे यह नापसंद है',

‘कितनी ऊब होती है’ वगैरह। आप जानते हैं कि यह संघर्ष जारी रहता है। तो सामान्य अर्थ में मैं कुछ भी अभ्यास करूं, कोई भी साधना, तो वह मेरे मस्तिष्क को अधिकाधिक सीमित, संकीर्ण और मन्द बनाता है। जबकि इस सबके आखिर में आप मुझे स्वर्ग का आश्वासन देते हैं। मेरा कहना है कि यह सैनिकों को दिन-प्रतिदिन प्रशिक्षण देने की तरह है, रोज़ाना कवायद करवाने जैसा, जब तक कि वे अपने अधिकारी के हाथ की कटपुतली बनने के सिवाय कुछ भी न रह जाएं। उनको बस थोड़ा सा दीक्षित कर दिया जाए। इसलिए मैं संबोधि के वास्ते किसी पद्धति, प्रणाली को अपनाने की पूरी सोच पर सवाल उठा रहा हूँ। किसी फैक्ट्री में बस इधर-उधर के बटन वगैरह दबाने, चलाने वाला आदमी उतना सृजन नहीं कर पाता जितना कि वह व्यक्ति जो काम करते हुए सीखने के लिए स्वतन्त्र है।

स्वामीजी : क्या आप इसे भावना के अंतर्गत रख सकते हैं?

कृष्णमूर्ति : क्यों नहीं?

स्वामीजी : तो यह कारगर है?

कृष्णमूर्ति : यही एकमात्र तरीका है। यही वास्तविक भावना है : जैसे-जैसे आगे बढ़ें, सीखते रहें। इसलिए जगे रहें। आगे बढ़ते-बढ़ते सीखना है, इसलिए जैसे-जैसे आगे बढ़ें, सचेत रहें। यदि मैं सैर पर, घूमने की किसी पद्धति, किसी विधि के हिसाब से निकलता हूँ, तो मेरा सारा सरोकार बस उस पद्धति से होगा : न मैं पंछियों को देखूंगा, न पेड़ों को, और न पत्ती पर पड़ रही शानदार रोशनी को, कुछ भी नहीं देखूंगा। और क्यों मैं किसी शिक्षक को मान लूँ, जो मुझे कोई पद्धति, कोई तरीका दे रहा है? हो सकता है वह भी मेरी ही तरह हो, अजीबोगरीब; और हैं ऐसे शिक्षक, जो बहुत विचित्र हैं। तो उस सब को मैं खारिज कर देता हूँ।

स्वामीजी : समस्या फिर वही है, शुरुआती सीखने वालों की।

कृष्णमूर्ति : शुरुआती सीखने वाला कौन है? वह, जो अपरिपक्व है?

स्वामीजी : शायद।

कृष्णमूर्ति : और इसलिए आप उसको खिलवाड़ के लिए खिलौना दे देते हैं?

स्वामीजी : जिससे शुरुआत हो सके...

कृष्णमूर्ति : हां, एक खिलौना; और उसको उसमें मजा आता है, दिन भर अभ्यास करता है वह, और उसका मन एकदम छोटा बना रहता है।

स्वामीजी : शायद भक्तियोग के संबंध में भी आपका यही उत्तर है। उसमें भी वही बात है, वे चाहते थे कि किसी-न-किसी तरह ये लोग जंजाल से बाहर निकलें, एक शुरुआत तो हो।

कृष्णमूर्ति : सर, मैं यकीन के साथ नहीं कह सकता।

स्वामीजी : मैं भक्ति के बारे में चर्चा करना चाहूंगा। भक्तियोग की बात करें, तो भक्त को मंदिरों और मूर्तियों तक में ईश्वर की आराधना करने को प्रोत्साहित किया जाता है, स्वयं के भीतर उस दिव्य उपस्थिति का अनुभव करते हुए। ढेर सारे मंत्र हैं जिनमें यह बात बार-बार दोहराई गई है कि “आप ही हैं वह, जो सब में समाया है, जो सर्वत्र उपस्थित है।” कृष्ण भक्तों से कहते हैं कि वे ईश्वर को प्रकृति की वस्तुओं में देखें और फिर एक ‘सर्व-शक्तिमान’ के रूप में देखें। साथ ही जप के, या मंत्र को उसके आशय के प्रति सजगता के साथ दोहराने के माध्यम से भक्त से यह कहा जाता है कि वह साफ-साफ देखे कि बाहरी ईश्वरीय उपस्थिति उसके भीतर दैवीय उपस्थिति से अलग नहीं है। इस प्रकार व्यक्ति को समग्र के साथ अपने एक होने का भान होता है। क्या इस तरीके में बुनियादी रूप से कुछ गलत है?

कृष्णमूर्ति : जी हां, सर! साम्यवादी समूह ईश्वर में कतई विश्वास नहीं करता। उन्होंने राज्य को ईश्वर से ऊपर रखा है। वे स्वार्थी हैं, डरे हुए हैं, किंतु ईश्वर या मंत्र आदि के लिए वहां कोई जगह नहीं है। फिर कोई और है, जो मंत्रों के दोहराने, जप आदि के बारे में कुछ नहीं जानता, किंतु वह कहता है : “मैं पता लगाना चाहता हूँ कि सत्य क्या है; मैं यह पता लगाना चाहता हूँ ईश्वर है भी या नहीं, हो सकता है ऐसा कुछ भी न हो।” जबकि गीता और वे सभी यह

मानकर चलते हैं कि ईश्वर है। वे कौन होते हैं मुझे बताने वाले कि ईश्वर है या नहीं, चाहे जो हों वे, कृष्ण या और कोई भी? मेरा कहना है कि हो सकता है यह आपकी स्वयं की संस्कारबद्धता हो; हो सकता है आप किसी खास जलवायु में पैदा हुए हों, किसी खास संस्कार के, रवैये के साथ। और उसमें आप पूरा भरोसा करते हैं। और तब आप नियम बना लेते हैं। लेकिन यदि मैं समस्त अधिसत्ता को, अथॉरिटी को नकार देता हूँ, जिसमें साम्यवादी, और पश्चिमी, व एशियाई, हर किस्म की अथॉरिटी शामिल है, तब मैं किस मुकाम पर होता हूँ? तब तो, मुझे स्वयं ही खोजबीन करनी होगी, क्योंकि दुखी और बदहाल भी मैं ही हूँ।

स्वामीजी : किन्तु मैं संस्कारों से मुक्त हो सकता हूँ।

कृष्णमूर्ति : वही मेरी ज़िम्मेदारी है : मुक्त होना। नहीं तो मैं सीख नहीं सकता। यदि मैं बाकी ज़िंदगी हिंदू बना रहता हूँ, तो समझिए कि मैं ख़त्म हो गया। कैथलिक—जो कैथलिक बना रहे—या फिर कोई कम्युनिस्ट हो, वे भी उसी प्रकार मरे-मराए हैं। लेकिन, असली सवाल यह है कि क्या मेरे लिए सत्ता को स्वीकार कर लेने वाले सभी संस्कारों को छोड़ देना मुमकिन है? पूरी सत्ता को नकार कर खोजबीन करने के लिए क्या मैं अकेला खड़ा हो सकता हूँ? मुझे अकेला होना ही होगा। इस शब्द का जो गहरा मतलब है, उसके मुताबिक यदि मैं अकेला नहीं हूँ तो मैं बस शंकर, बुद्ध या किसी-न-किसी और की बातों को दोहराता रहूँगा। यह अच्छी तरह जानकर कि उस दोहराव का हकीकत के साथ कोई संबंध नहीं है, इसका कोई मतलब नहीं रह जाता। तो क्या मुझे, यानी हर किसी को—चाहे वह परिपक्व हो, अपरिपक्व हो या अर्ध परिपक्व—अकेले होना नहीं सीखना चाहिए? यह बहुत पीड़ादायक है; वे कहते हैं, “हे भगवान, मैं अकेला कैसे हो सकता हूँ?”—बिना उन बच्चों के, बिना किसी ईश्वर के, बिना उस पुरोहित के? उसमें डर होता है।

स्वामीजी : क्या आपको लगता है कि हर कोई यह कर सकता है?

कृष्णमूर्ति : क्यों नहीं, सर? यदि आप ऐसा नहीं कर सकते तो आप इसमें फंसे रहेंगे। तब चाहे जितने देवता हों, मंत्र हों, चालबाजियाँ हों कोई भी आपकी मदद नहीं करने वाले। यह उस को ढक सकता



है, रोक सकता है, दबाकर ठंडे बस्ते में डाल सकता है। लेकिन फिर भी यह हमेशा बना रहता है।

स्वामीजी : अब एक और तरीका भी है—अकेले खड़े होने का—जिसे राजयोग कहते हैं। इसमें भी शिष्य को कुछ सद्गुणों को पैदा करने के लिए कहा जाता है। ये सद्गुण एक ओर अच्छा नागरिक बनने में उसकी मदद करते हैं, तो दूसरी ओर संभावित मानसिक बाधाओं को दूर करने में। यह साधना जो खास तौर से विचार की सजगता से संबंधित है—जिसमें स्मृति, कल्पना और निद्रा शामिल हैं—आपकी शिक्षा के नज़दीक लगती है। आसन और प्राणायाम तो शायद सहायक की भूमिका में हैं। यहां तक कि योग में जिस ध्यान के बारे में बताया गया है वह आत्मबोध लाने के लिए नहीं होता। जिसके बारे में यह माना गया है कि वह एक के बाद एक की जा रही क्रियाओं का आखिरी परिणाम नहीं होता है। कृष्ण साफ-साफ कहते हैं कि योग बोध को निर्मल बनाता है: “आत्म शुद्धये”। क्या आपको यह सही लगता है? यहां पर बहुत कम मदद दी जा रही है; ईश्वर भी मात्र “पुरुष विशेषः” ही है। वह एक किस्म के गुरु की तरह है, जो अन्दरूनी प्रक्रिया में दिखाई नहीं देता है पर मौजूद रहता है। क्या आपको यह तरीका सही लगता है - यह तरीका है ध्यान में बैठकर गहरे, और गहरे उतरते जाने की कोशिश करना?

कृष्णमूर्ति : निश्चित रूप से तब हमें ध्यान के प्रश्न को लेना होगा।

स्वामीजी : पतंजलि के अनुसार ध्यान का अर्थ है : “समस्त सांसारिक या बाह्य विचारणा का अभाव।” इसे ही “भक्ति शून्यम्” कहा जाता है।

कृष्णमूर्ति : देखिए सर, मैंने यह सब नहीं पढ़ा है। अब, मैं यहां पर हूं: मुझे कुछ नहीं पता। मुझे बस यह मालूम है कि मैं दुख में हूं और मेरे पास एक अच्छा-खासा दिमाग है। मेरे पास कोई नहीं है—शंकर, कृष्ण, पतंजलि, कोई भी नहीं—मैं पूरी तरह अकेला हूं। मुझे अपनी जिंदगी का सामना करना है, और एक अच्छा नागरिक भी होना है—साम्यवादियों, पूंजीवादियों या समाजवादियों के हिसाब से नहीं, बल्कि सही व्यवहार के तौर पर अच्छा नागरिक। यह घर और दफ्तर में अलग-अलग नहीं होता। सबसे पहले तो मैं यह पता

लगाना चाहता हूँ कि इस दुख से कैसे मुक्त हुआ जाए। तब, मुक्त होने पर, मैं यह पता लगाऊंगा कि ईश्वर या वैसा कुछ है भी या नहीं। इसलिए मैं इस भारी बोझ से मुक्त होना कैसे सीखूँ? यह मेरा पहला सवाल है। मैं इसे दूसरे के साथ अपने संबंध में ही समझ सकता हूँ। मैं किसी कोने में अकेले बैठकर इसकी तहकीकात नहीं कर सकता क्योंकि मैं इसे विकृत कर सकता हूँ; मेरा मन मूढ़ और पूर्वाग्रहों से भरा हुआ है। तो मुझे इसकी जांच-पड़ताल करनी होगी संबंधों में—कुदरत के साथ, इन्सानों के साथ—कि यह भय क्या है, यह दुख क्या है, क्योंकि यदि मैं किसी एकांत में जाकर अकेले बैठ जाता हूँ, तो मैं बड़ी आसानी से खुद को धोखा दे सकता हूँ। जबकि संबंधों में सजग रहते हुए इन सब पर मेरी नजर तुरंत पड़ जाएगी।

स्वामीजी : यदि आप सतर्क हैं तो।

कृष्णमूर्ति : यही खास बात है। यदि मैं सतर्क हूँ, ध्यान दे रहा हूँ, तो मैं पता लगा लूंगा। और उसमें समय नहीं लगता।

स्वामीजी : किंतु यदि कोई सतर्क नहीं है तो?

कृष्णमूर्ति : इसलिए समस्या है सजग, जागरूक होने की। क्या इसके लिए कोई तरीका है? इस बात पर गौर करिये, सर। यदि कोई तरीका है जो सजग होने में मेरी मदद करता हो, तो मैं उसका अभ्यास करने लगूंगा; लेकिन क्या वह सजगता होगी? क्योंकि उस सारी प्रक्रिया में रूटीन, किसी अथॉरिटी को मान लेना, दोहराव, यह सब है और वह धीरे-धीरे मेरी सजगता को ही कुंद करता जाएगा। अतः मैं सजगता के अभ्यास को नामंजूर कर देता हूँ। मेरा कहना है कि दुख को मैं सिर्फ संबंधों में समझ सकता हूँ और वह समझ सजगता के माध्यम से ही आ सकती है। इसलिए मुझे सजग रहना होगा। मैं सजग हूँ, इसलिए कि मेरी मांग है दुख का अंत करने की। जब मैं भूखा होता हूँ तो भोजन चाहता हूँ और उसे ढूँढता हूँ। इसी प्रकार, मुझे पता चलता है कि मेरे भीतर दुख का भारी बोझ है, और इसका पता मुझे संबंध के ज़रिये चलता है—मैं कैसे आपसे बर्ताव करता हूँ, कैसे लोगों से बात करता हूँ। संबंधों की उस प्रक्रिया में, यह चीज़ दिखाई पड़ जाती है।

स्वामीजी : यदि मैं इसे इस तरह कहूँ कि उन संबंधों में आप हमेशा आत्म-सजग हैं।

कृष्णमूर्ति : हां, मैं सजग हूँ, सतर्क हूँ, देख रहा हूँ।

स्वामीजी : क्या एक साधारण आदमी के लिए यह बात इतनी आसान है?

कृष्णमूर्ति : यदि वह आदमी गंभीर है और कहता है, “मैं पता लगाना चाहता हूँ”, तो उसके लिए यह आसान बात है। अस्सी से नब्बे फीसदी साधारण लोगों की वास्तव में इसमें कोई दिलचस्पी ही नहीं है। लेकिन वह आदमी जो गंभीर है, कहेगा, “मैं इस सबकी खोजबीन करना चाहता हूँ, मैं यह देखना चाहता हूँ कि क्या मन दुख से मुक्त हो सकता है”। और यह संबंधों में ही मुमकिन है। मैं दुख को ईजाद नहीं कर सकता। संबंध में, दुख आ ही जाता है।

स्वामीजी : दुख भीतर है।

कृष्णमूर्ति : सही बात है, सर, यह एक मानसिक घटना है।

स्वामीजी : आप नहीं चाहेंगे कि व्यक्ति बैठे और ध्यान करे, खुद को पैना करे?

कृष्णमूर्ति : तो आइये, हम ध्यान के प्रश्न पर लौटते हैं। क्या है ध्यान?—पतंजलि ने या किसी और ने क्या कहा है उसके मुताबिक नहीं, क्योंकि वे पूरी तरह गलत भी हो सकते हैं। और जब मैं कहता हूँ कि मुझे पता है कि ध्यान कैसे किया जाता है तो मैं भी गलत हो सकता हूँ। अतः हमें खुद से ही यह पूछना होगा, पता लगाना होगा कि ध्यान है क्या। क्या ध्यान चुपचाप बैठना है, विचारों को केंद्रित, नियंत्रित करना है, निरीक्षण करना है?

स्वामीजी : शायद उन्हें देखना।

कृष्णमूर्ति : टहलते, चलते हुए भी आप देख सकते हैं।

स्वामीजी : यह मुश्किल है।

कृष्णमूर्ति : आप खाना खाते समय देखते हैं, दूसरों को सुनते समय देखते हैं, जब कोई आपसे ऐसी बात कहता हो जिससे आप आहत होते हैं या फूले नहीं समाते उस वक्त भी आप देखते हैं। इसका

मतलब है कि आपको हर वक्त सतर्क रहना है—जब आप चीजों को बढ़ा-चढ़ाकर बता रहे हों, जब आप झूठ-सच बोल रहे हों। आप समझ रहे हैं न? देखने के लिए आपका मन बिलकुल शांत होना चाहिए। यही ध्यान है। यह सब कुछ ध्यान ही है।

स्वामीजी : मुझे ऐसा लगता है कि पतंजलि ने मन को शांत करने के लिए एक अभ्यास विकसित किया, इसके इस्तेमाल की शुरुआत जीवन की युद्धभूमि पर न होकर तब होती है जब आप एकाकी होते हैं। और फिर उसे संबंधों तक ले जाया जा सकता है।

कृष्णमूर्ति : लेकिन यदि आप उस युद्ध से भागते हैं...

स्वामीजी : थोड़े समय के लिए...

कृष्णमूर्ति : यदि आप उस युद्ध से भागते हैं तो आपने उस युद्ध को समझा ही नहीं। युद्ध तो आप खुद ही हैं। आप अपने आप से कैसे भाग सकते हैं? आप कोई ड्रग ले सकते हैं, आप दिखावा कर सकते हैं कि आप छूट आए। आप मंत्र दोहरा सकते हैं, जाप कर सकते हैं। इसी प्रकार की तमाम चीजें कर सकते हैं। लेकिन वह युद्ध तो लगातार जारी है। आप कहते हैं, “चुपचाप इससे बाहर निकल जाएं और फिर बाद में वापस आ जाएं।” यह तो विखंडन हुआ। हमारा सुझाव है : “आप उस युद्ध को देखें जिसमें आप शामिल हैं, फँसे हुए हैं, वह युद्ध आप ही तो हैं।”

स्वामीजी : यह हमें उस अंतिम अनुशासन तक ले आता है : कि आप ही वह हैं।

कृष्णमूर्ति : आप ही वह युद्ध हैं।

स्वामीजी : आप वही हैं, आप ही युद्ध हैं, आप ही योद्धा हैं, आप उससे अलग हैं, आप उसके साथ हैं—सब कुछ। ज्ञानयोग का शायद यही अर्थ है। ज्ञानयोग के मुताबिक साधक को चार तरह के साधन अपनाने के लिए कहा जाता है : विवेक, अर्थात् यथार्थ की खोज तथा मिथ्या का त्याग; वैराग्य अर्थात् सुख के पीछे न भागना; षट् सत्सम्पदा जिसका भाव यह है कि इस प्रकार का जीवन जीना जो इस योग के अभ्यास में मदद करे; तथा मुमुक्षुत्व, यानी सत्य के अन्वेषण के लिए पूरा समर्पण होना। इसके बाद शिष्य गुरु के पास

जाता था। उसकी साधना में शामिल होता था—श्रवण (सुनना), मनन (सोच-विचार), तथा निधिध्यासन (धारण करना)। यही सब कुछ हम यहां कर रहे हैं। शिष्य में संबोधि जगाने के लिए गुरु कई तरीके अपनाता था—सामान्य तौर पर जिसका आशय होता था 'सर्व' या 'संपूर्ण अस्तित्व' का बोध। शंकर इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं : “अनंत ही एकमात्र सत्य है। संसार मिथ्या है। व्यक्ति उस अनंत से अभिन्न है। अतः वहां कोई विखंडन नहीं है।” शंकर ने जब संसार को माया बताया तो उनका आशय था कि आभासी-संसार यथार्थ नहीं है। इसकी हमें खुद तहकीकात करनी होगी, खुद पता लगाना होगा। कृष्ण ने इसका वर्णन गीता में इस प्रकार किया है : “योगी को जब ज्ञात होता है कि कर्म, उस कर्म का कर्ता, उसमें प्रयुक्त साधन, और वह साध्य जिसके प्रति कर्म किया जा रहा है, यह सब एक ही है, तो फिर विखंडन के पार हुआ जा सकता है।”

ज्ञानयोग की इस पद्धति के बारे में आप क्या सोचते हैं? पहले तो यह साधना चतुर्धाय है, जिसके लिए शिष्य पहले खुद को तैयार करता है। इसके बाद वह गुरु के पास जा कर उनसे सत्य सुनता है। फिर वह उस पर मनन करता है और उसे अपने भीतर उतार लेता है जिससे कि वह उसके साथ एकाकार हो जाए। इस सत्य को आम तौर पर इन सूत्रों के रूप में व्यक्त किया जाता है। किंतु दोहराए जाने वाले इन सूत्रों की अनुभूति भी की जानी होती है। क्या इनका कोई अर्थ है?

कृष्णमूर्ति : सर, यदि आपने इनमें से कुछ भी न पढ़ा हो—पतंजलि, शंकर, चान, उपनिषद्, राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, कुछ भी न पढ़ा होता—तब आप क्या करते?

स्वामीजी : मुझे खोजबीन करनी होगी।

कृष्णमूर्ति : आप क्या करते?

स्वामीजी : प्रयत्न, संघर्ष।

कृष्णमूर्ति : यह तो आप कर ही रहे हैं। अब क्या करेंगे? कहां से शुरुआत करेंगे?—जब आप नहीं जान रहे होते कि दूसरों ने क्या कहा है। मार्क्स, एंगल्स, लेनिन, स्टालिन आदि साम्यवादी नेताओं ने

भी क्या कहा है। यह रहा मैं, एक आम इन्सान, मैंने कुछ नहीं पढ़ा है, और मुझे जानना है। मैं कहां से शुरू करूं? मुझे काम करना है—कर्मयोग—किसी बगीचे में, रसोई में, कारखाने में, किसी ऑफिस में, काम तो करना है। और फिर पत्नी तथा बच्चे भी हैं : मैं उन्हें प्यार करता हूं, उनसे घृणा करता हूं, मैं सेक्स का आदी हो चुका हूं क्योंकि मेरी ज़िंदगी में सिर्फ वही एक पलायन बचा है। यह मैं हूं। यह नक्शा है मेरी ज़िंदगी का, और यहां से मैं शुरू करता हूं। मैं उधर से, वहां से शुरू नहीं कर सकता; मैं यहां से शुरू करता हूं और खुद से पूछता हूं कि यह माजरा है क्या। ईश्वर के बारे में मुझे कुछ नहीं पता। आप उसे ईजाद कर सकते हैं, उसका स्वांग रच सकते हैं—स्वांग रचना खौफनाक बात है मेरे लिए। अगर मैं नहीं जानता, तो नहीं जानता। मैं शंकर, बुद्ध या किसी और का उद्धरण देने नहीं जा रहा। तो मैं कहता हूं : यहीं से मुझे शुरू करना है। क्या मैं अपनी ज़िंदगी में व्यवस्था ला सकता हूं? व्यवस्था, जो मैंने या किसी और ने ईजाद न की हो, बल्कि वह व्यवस्था जो कि सदाचरण है। क्या मैं इसे ला सकता हूं? और सदाचारी होने के लिए मेरे भीतर या बाहर कोई संघर्ष, कोई द्वंद्व नहीं होना चाहिए; इसलिए, कोई आक्रामकता, हिंसा, घृणा, शत्रुता नहीं होनी चाहिए। यहां से मैं आरंभ करता हूं। और मुझे पता लगता है कि मैं भयभीत हूं। तो मुझे भय से मुक्त होना होगा। इसका अहसास होना ही इस सब के प्रति सजग होना है, इस बारे में सजग होना है कि मैं खड़ा कहां हूं; वहीं से मैं बढ़ूंगा, काम करूंगा। और तब मुझे पता चलता है कि मैं एकाकी हो सकता हूं—स्मृतियों का, शंकर, बुद्ध, मार्क्स, एंगल्स का बोझ ढोये बिना—आप समझ रहे हैं न? मैं एकाकी हो सकता हूं क्योंकि मैंने अपने जीवन में व्यवस्था को, ऑर्डर को समझ लिया है; और मैंने व्यवस्था को इसलिए समझ लिया है क्योंकि मैंने अव्यवस्था को नकार दिया है, क्योंकि मैंने अव्यवस्था को समझ लिया है। अव्यवस्था का मतलब है द्वंद्व, अधिसत्ता, अर्थोरिटी को मान लेना, फरमाबरदारी, नकल, वह सारा कुछ। यही तो है अव्यवस्था; सामाजिक नैतिकता अव्यवस्था है। तो अव्यवस्था को समझकर, नकारकर, मैं स्वयं में व्यवस्था लाता हूं; स्वयं का मतलब

कहीं कोने में बसे किसी क्षुद्र-तुच्छ मनुष्य के तौर पर नहीं, बल्कि वस्तुतः एक मानव के नाते।

स्वामीजी : आप समझाएंगे कैसे इसको?

कृष्णमूर्ति : यह मनुष्य ही तो है जो इस नरक से होकर गुज़र रहा है। प्रत्येक मनुष्य इससे गुज़र रहा है। यदि मैं, एक मनुष्य के तौर पर, इसको समझ लेता हूँ तो मैंने कुछ ऐसा खोज लिया होता है जिसे सभी मानव खोज सकते हैं।

स्वामीजी : लेकिन यह कैसे पता चले कि व्यक्ति स्वयं को धोखा नहीं दे रहा है?

कृष्णमूर्ति : सीधी सी बात है। सबसे पहली बात, विनम्रता : मैं कुछ भी हासिल नहीं करना चाहता।

स्वामीजी : पता नहीं आप कभी ऐसे लोगों के संपर्क में आये हैं या नहीं जो यह कहा करते हैं, “संसार का सबसे विनम्र व्यक्ति मैं हूँ।”

कृष्णमूर्ति : मालूम है। वह सब तो एकदम बेवकूफी है। उपलब्धि की चाह न रखना इसमें नहीं है।

स्वामीजी : कैसे पता चले व्यक्ति को, जब वह इस सबके बीचों-बीच, इसके बहाव में हो?

कृष्णमूर्ति : निश्चय ही आपको पता चल जाएगा। जैसे ही आपकी इच्छा यह कहती है, “मुझको मिस्टर स्मिथ जैसा बनना है, जो कि प्रधानमंत्री है, या जनरल है, या कार्यकारी अधिकारी है”, वही अहंकार, घमंड, कुछ हासिल करने की शुरुआत है। मुझे पता रहता है जब मैं उस नायक की तरह होना चाहता हूँ, जब मैं बुद्ध सरीखा बनना चाहता हूँ, जब मैं संबोधि प्राप्त करना चाहता हूँ, जब इच्छा कहती है, “कुछ बनके दिखाओ।” इच्छा कहती है कि कुछ बनने में अथाह सुख है।

स्वामीजी : लेकिन अभी भी इस सब के पीछे समस्या का जो मूल है, उससे क्या हम दो-चार हो पाए हैं?

कृष्णमूर्ति : बिल्कुल हुए हैं। ‘मैं’ इस सारी समस्या की जड़ है। आत्मकेंद्रित होना समस्या की जड़ है।

स्वामीजी : किंतु यह है क्या? इसका क्या तात्पर्य है?

कृष्णमूर्ति : आत्म-केंद्रितता का? मतलब मैं आपसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण हूं, मेरा घर-बार, मेरी जायदाद, मेरी उपलब्धियां—सबसे पहले 'मैं'।

स्वामीजी : किंतु कोई शहीद ऐसा कह सकता है, "मैं कुछ भी नहीं हूं, मैं मरने के लिए तैयार हूं।"

कृष्णमूर्ति : कौन?—वे ऐसा नहीं कहते।

स्वामीजी : "हम पूर्णतया स्वार्थरहित, निःस्वार्थ हैं", वे ऐसा कह सकते हैं।

कृष्णमूर्ति : नहीं, सर, कोई और क्या कहता है उसमें मेरी दिलचस्पी नहीं है।

स्वामीजी : हो सकता है वह खुद को झांसा दे रहा हो।

कृष्णमूर्ति : जब तक मैं अपने आपमें स्पष्ट हूं, मैं खुद को धोखा नहीं दे रहा। जैसे ही मेरे पास कोई पैमाना आया, मैं खुद को धोखा देने की स्थिति में आ गया। जैसे ही मैंने अपनी तुलना रॉल्स रॉयस रखने वाले किसी व्यक्ति से, या बुद्ध से करनी शुरू कर दी, मेरे पास एक पैमाना आ गया। किसी के भी साथ अपनी तुलना करना भ्रम की शुरुआत है। जब मैं तुलना नहीं कर रहा, तो मैं वहां से डिगूंगा क्यों?

स्वामीजी : 'आत्म' होने के लिए?

कृष्णमूर्ति : जो कुछ भी मैं हूं; यानी : मैं बदसूरत हूं, गुस्से से, छलावे से, डर से, इस या उस चीज़ से भरा हूं। मैं यहां से आरंभ करता हूं और देखता हूं कि इस सबसे मुक्त होना संभव है भी या नहीं। ईश्वर के बारे में मेरा सोचना ऐसे ही है जैसे उन पर्वतों पर चढ़ने के बारे में सोचना, जो मैं कभी नहीं करने वाला।

स्वामीजी : किंतु फिर भी उस दिन आपने एक बड़ी ही दिलचस्प बात कही थी : व्यक्ति और समष्टि एक ही हैं। व्यक्ति किस तरह समष्टि के साथ अपने एक होने की अनुभूति कर सकता है?

कृष्णमूर्ति : लेकिन यह एक हकीकत है। मैं यहां शटाड में रहता हूं; कोई भारत में रहता है, लेकिन समस्या हर जगह वही है, वही



दुश्चिन्ता है, वही भय है; फर्क है कोई तो सिर्फ उनके अलग-अलग ढंग से व्यक्त होने का, पर सारी चीज़ की जड़ तो एक ही है। यह एक बात हुई। दूसरी बात यह है कि परिवेश ने इस वैयक्तिकता को उत्पन्न किया है और वैयक्तिकता ने ही इस परिवेश को बनाया है। मेरे लालच ने ही तो इस सड़े हुए समाज को रचा है। मेरे गुस्से ने, मेरी नफरत ने, मेरे जीवन के बिखराव ने राष्ट्र को और इस सारी बेतरतीबी को पैदा किया है। तो मैं ही यह संसार हूँ, और यह संसार ही 'मैं' है। तार्किक ढंग से, बौद्धिक रूप से, शाब्दिक तौर पर तो ऐसा ही है।

स्वामीजी : किंतु किसी को इसका अहसास कैसे हो?

कृष्णमूर्ति : वह तभी होता है, जब आप बदलते हैं। जब आप बदलते हैं, तो आप राष्ट्रवादी नहीं रह जाते। आप किसी भी चीज़ में सीमित नहीं हो पाते।

स्वामीजी : दिमागी तौर पर मैं कह सकता हूँ कि मैं हिंदू नहीं हूँ, या मैं भारतीय नहीं हूँ।

कृष्णमूर्ति : लेकिन सर, यह तो सिर्फ एक चाल हुई। आपको इसे अपने रक्त में महसूस करना होगा।

स्वामीजी : कृपया बताएं कि इसके क्या मायने हुए।

कृष्णमूर्ति : इसके मायने हैं, सर, कि जब आप राष्ट्रवाद के खतरे को देख लेते हैं तो आप उससे बाहर हो जाते हैं। जब आपने विखंडन के खतरे को महसूस कर लिया, तो आप किसी खंड के होकर नहीं रहते। हम इसके खतरे को देखते ही नहीं। बात बस इतनी है।

स्वामी वेंकटेशानंद के साथ कृष्णमूर्ति का संवाद  
सानेन, 25 जुलाई, 1969  
अनुवाद : मुकेश गुप्ता



“परिवेश ने इस वैयक्तिकता को उत्पन्न किया है और वैयक्तिकता ने ही इस परिवेश को बनाया है। मेरे लालच ने ही तो इस सड़े हुए समाज को रचा है। मेरे गुस्से ने, मेरी नफरत ने, मेरे जीवन के बिखराव ने राष्ट्र को और इस सारी बेतरतीबी को पैदा किया है।”





“मैं रास्ते में किसी आदमी से पूछता हूँ, “क्या आप मुझे सानेन की तरफ जाने वाला रास्ता बताएंगे”, और मुझको वह बता देता है; लेकिन मैं वहाँ रुककर अपनी श्रद्धा नहीं प्रकट करने लगता। यह नहीं कहता, “हे भगवान! आप तो महानतम व्यक्ति हैं!” यह सब तो बड़ा बचकाना है।”

अपने छोटे घेरे में  
बाह्य आएं

पुपुल जयकर : तंत्र के बारे में बात करते हुए कहा गया है कि ऊर्जा को जगाने का एक रास्ता है। तांत्रिक कुछ निश्चित मनोकेन्द्रों पर ध्यान लगाते हैं और उन केन्द्रों में छिपी हुई ऊर्जा को मुक्त करते हैं। क्या आप इसे सही मानते हैं? ऊर्जा को जगाने का तरीका क्या है?

कृष्णमूर्ति : इन मनोभौतिक केन्द्रों पर मन को एकाग्र करने का मतलब है—समय की प्रक्रिया में बंध जाना। क्या ऐसा नहीं है? इसलिए मैं पूछना चाहूंगा कि क्या समय की प्रक्रिया में बंधे बगैर ऊर्जा को जगाया जा सकता है?

पुपुल जयकर : परंपरागत तरीके से सही आसन और सांसों का तारतम्य आवश्यक है। यदि सीधे बैठने और ठीक से सांस लेने की समझ नहीं है तो विचारों का अन्त नहीं हो सकता। शरीर और सांसों को सन्तुलन की स्थिति में लाने के लिए समय की प्रक्रिया आवश्यक हो जाती है।

कृष्णमूर्ति : इस समस्या के प्रति एक बिल्कुल अलग नजरिया भी हो सकता है। परंपरा मनोदैहिक तल से शुरू होती है—आसन, सांसों का नियंत्रण, और धीरे-धीरे एकाग्र होने के कई उपायों के द्वारा पूरी ऊर्जा के जागरण की ओर ले जाती है।

इसी तरीके को स्वीकार कर लिया गया है। क्या इन सभी अभ्यासों से गुजरे बिना इस ऊर्जा को जगाया नहीं जा सकता?

पुपुल जयकर : यह ज़ेन गुरुओं जैसा मामला है जो कहते हैं कि असली गुरु वह है जो सारे प्रयासों को एक किनारे कर देता है। और फिर भी ज़ेन में धनुर्विद्या के लिए तकनीक पर असाधारण नियंत्रण जरूरी होता है। प्रयास तभी छूट पाता है जब पूरी तरह निपुणता सध जाती है।

कृष्णमूर्ति : आप उधर की बजाय इस तरफ से शुरू कर रही हैं— यह किनारा जो समय है, नियंत्रण, ऊर्जा, पूर्णता, पूर्ण संतुलन आदि सब कुछ है। मुझे ऐसा लगता है कि यह सब कुछ ऐसा है जैसे किसी बहुत बड़े क्षेत्र के बहुत छोटे हिस्से को महत्त्व देना। परंपरा बीते हुए को, सांस लेने को, सही आसन को बहुत महत्त्व देती है। यह सब उस क्षेत्र के एक कोने तक ही सीमित है और इस कोने में बैठ कर आप प्रज्ञावान होने की आशा करते हैं। फिर यह एक छल बन जाता है। कुछ प्रकार की मनोदैहिक कलाबाजियों से यह उम्मीद कर ली जाती है कि आप उस प्रकाश को अपनी गिरफ्त में ले लेंगे और पूरी सृष्टि को समझ डालेंगे। मैं ऐसा नहीं सोचता कि प्रज्ञाशीलता वहां उस कोने में है। यह तो ऐसा ही है मानो आप एक छोटी खिड़की से आकाश को देखें और उसे देखने के लिए कभी बाहर न आएँ। मुझे महसूस होता है कि वह जो पूरी तरह समय से परे और विशाल है, उसे पाने का यह जो तरीका है वह बेढंगा है।

पुपुल जयकर : तो फिर आप भी यह मानते हैं कि सही आसन और ठीक-ठीक सांस लेने की क्रिया मन की संरचना को मजबूत बनाती हैं।

कृष्णमूर्ति : मैं इन सभी बातों को बिल्कुल अलग ढंग से समझना चाहता हूँ। इसे बिल्कुल ही अलग तरीके से देखने के लिए जरूरी है कि जो कुछ भी कहा गया है उसे एक ओर फेंक दिया जाए। मैं इस कोने को वैसे ही देखता हूँ जैसे कि चमकते सूरज की रोशनी में मोमबत्ती का जलना। चमकते सूरज की रोशनी में मोमबत्ती को बहुत सावधानी से आप जलाने का जतन कर रहे हैं। आपका उस

चमकती धूप से कोई वास्ता नहीं है और आप बस उस मोमबत्ती को जलाने में लगे हुए हैं।

कुछ दूसरी बातें भी शामिल हैं। इस ऊर्जा को जगाना है जो लम्बे समय से बरबाद होती आ रही है। ऊर्जा को बटोर कर एक जगह लाने, इसे पूरी तरह इकट्ठा करने में अवधान (अटेंशन) आवश्यक है और साथ ही समय का पूरी तरह खत्म होना भी। समय और ऐसा अवधान जिसे जबरन नहीं लाया गया हो, जो एकाग्रता न हो, जो किसी एक हिस्से के आसपास केन्द्रित नहीं हो और ऊर्जा इकट्ठी हो जाए—मैं समझता हूँ कि ये बुनियादी चीजें हैं जिन्हें समझा जाना चाहिए। क्योंकि संबोधि का अर्थ वास्तव में बस यही है कि इस विराट जीवन को समझ लिया जाए। जीने, मरने, प्रेम करने और उससे परे जाने के समूचे कारोबार को।

परंपरागत शिक्षक भी मानेंगे कि आपको समय के पार जाने के लिए अवधान की आवश्यकता है ही। लेकिन वे तो कोने के पुजारी हैं—वे समय के पार जाने के लिए समय का इस्तेमाल करते हैं।

पुपुल जयकर : सर, कैसे? मैं एक खास आसन में बैठती हूँ और अवधान में जाती हूँ। समय इसमें कहां आया?

कृष्णमूर्ति : क्या अवधान समय का परिणाम है?

पुपुल जयकर : नहीं। आप एक प्रश्न पूछते हैं और वहां तुरंत अवधान आ जाता है। क्या यह अवधान समय की देन है?

कृष्णमूर्ति : नहीं। कतई नहीं।

पुपुल जयकर : आपका प्रश्न और मेरा अवधान वहां मौजूद है। क्या इसमें कहीं से समय आता है? यदि आप इसे समय का होना मानेंगे फिर तो खुद को जानने की लगातार चलने वाली प्रक्रिया भी समय के दायरे में ही है। मेरा मन बीस साल पहले ऐसा नहीं था जैसा अब है। मन की यह अवस्था उस समय थी ही नहीं।

कृष्णमूर्ति : जरा आहिस्ता चलें। हम कुछ ऐसा जानने की कोशिश कर रहे हैं जो समय के दायरे से बाहर है।

पुपुल जयकर : परंपरा कहती है—शरीर और मन को तैयार करो।

कृष्णमूर्ति : समय के द्वारा शरीर और मन को इस तरह तैयार करना कि वह ग्रहण कर सके, समझ सके और समय से मुक्त हो सके क्या आप समय के द्वारा ऐसा कर सकते हैं?

पुपुल जयकर : परंपरा यह भी मानती है कि समय के द्वारा आप समय के पार नहीं जा सकते।

कृष्णमूर्ति : समय के द्वारा आप उपकरण (शरीर/मन) को सटीक बना सकते हैं इस बात पर मैं सवाल उठाता हूँ। क्या समय के द्वारा आप उपकरण को सही कर सकते हैं? अब सबसे पहला सवाल यह है कि उपकरण को सटीक बना कौन रहा है? विचार?

पुपुल जयकर : यह कहना ठीक नहीं कि केवल विचार ही यह कर रहा है। इसमें ढेर सारे और कारक भी जुड़े हुए हैं।

कृष्णमूर्ति : विचार और बुद्धि—इन सब को विचार ही कायम रखता है। यह कहना कि विचार का अन्त होना ही चाहिए और समझ आनी ही चाहिए—यह भी विचार की ही क्रिया है। वैसे ही जैसे कि यह कहना कि विचारक और विचार दोनों एक ही हैं।

मेरे लिए विचार के द्वारा विचार के परे जाने की तरकीब, बुद्धि का विकास और फिर समय के परे जाने की कोशिश का परंपरागत तरीका—यह सब विचार की परिधि में ही है। यह ऐसा ही है। इसलिए उस विचार में ही विचारक मौजूद है—विचारक, जो कहता है—यह होना ही चाहिए और यह कतई नहीं होना चाहिए। वह विचारक कुछ पाने की इच्छा बन गया है। उपकरण को सटीक बनाने का संकल्प भी विचार का ही हिस्सा है।

पुपुल जयकर : जिस चक्र का अभी आपने वर्णन किया उसमें यह निहित है कि विचार ही उपकरण है जिस पर प्रश्न किया जाए।

कृष्णमूर्ति : लेकिन प्रश्नकर्ता विचार का ही हिस्सा है। पूरा ढांचा विचार का हिस्सा है। आप इसे बांटते चले जाएं, इसके हिस्से करें, इसे बदलें, लेकिन यह सब कुछ विचार के क्षेत्र में है और वह समय का क्षेत्र है। विचार स्मृति है। विचार एक भौतिक चीज है—और स्मृति भी भौतिक है। हम अभी भी ज्ञात के क्षेत्र में ही काम कर रहे हैं। वह आदमी जो विचार को समृद्ध कर रहा है, कहता है कि वह

ज्ञात के द्वारा अज्ञात तक जाएगा। ज्ञात को ठीक कर संबोधि प्राप्त कर लेगा। यह सब भी विचार ही है।

पुपुल जयकर : यदि सब कुछ विचार ही है तो फिर तो यह जरूरी हो जाता है कि किसी नये उपकरण को जन्म दिया जाए।

कृष्णमूर्ति : जब विचार कहता है कि इसे शान्त होना ही चाहिए और यह शान्त हो जाता है—फिर भी यह विचार ही होता है। परंपरावादी यही कर रहे हैं, वे विचार के क्षेत्र में ही काम कर रहे हैं और विचार पूरे क्षेत्र का एक कोना मात्र है। यह सब कुछ विचार का ही परिणाम है। आत्मा विचार का ही परिणाम है। ब्रह्म भी, जिसे आदमी खोज रहा है—विचार का ही परिणाम है। जिस आदमी ने ब्रह्म का अनुभव किया उसका विचार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था—यह तो बस हो गया। बाद में आए उनके शिष्य कहने लगे ऐसा करो, वैसा करो—लेकिन यह सब विचार के क्षेत्र में ही है।

पुपुल जयकर : फिर आगे बढ़ना तो कुछ है ही नहीं?

कृष्णमूर्ति : देखो, विचार कैसे अपने आप को छल रहा है? मुझे संतुलित होना है। मुझे सही आसन में बैठना चाहिए ताकि जीवन ऊर्जा मुझसे होकर बह सके। ठीक? मैं कहता हूँ कि विचार अतीत से निकलता है। यह बड़े ही अद्भुत यंत्र वगैरह बना सकता है—यह चांद तक, शुक्र तक जा सकता है—लेकिन विचार कभी 'उसे' छू नहीं सकता क्योंकि यह तो कभी मुक्त ही नहीं है। विचार पुराना है, संस्कारों से बंधा हुआ है, ज्ञात का सारा ताना-बाना विचार ने ही बुना है।

पुपुल जयकर : आपका उस 'अन्य' से क्या मतलब है?

कृष्णमूर्ति : 'वह' यह नहीं है।

पुपुल जयकर : 'वह' क्या नहीं है?

कृष्णमूर्ति : यह समय की परिधि में है; विचार समय है। इसलिए पता करें कि क्या दुख का अन्त संभव है। अपने कोने से बाहर निकलें। पता करें कि जीवन क्या है, मृत्यु का मतलब क्या है, दुख के अन्त का मतलब क्या है? यदि आप 'उसे' नहीं समझ पाए हैं



तो विचार की तरकीबों के साथ खेलने का कोई मतलब नहीं। आप अपनी सभी कुंडलिनियों को जाग्रत कर सकते हैं, लेकिन इसका उद्देश्य क्या होगा? कुंडलिनियों को कैसे जगाएं? कुंडलिनियां कैसे जगें, यह सिखाना या फिर ज़ेन के अनुसार धनुर्विद्या का कौशल सिखाना या तंत्र के तमाम तौर-तरीकों का अभ्यास करना—यह सब समय में बंधी हुई चीजें हैं जो कि विचार है।

मैं यह देखता हूं और यह भी कि मैं गोल-गोल घूमे जा रहा हूं। वृत्त बड़ा हो सकता है लेकिन फिर भी यह वृत्त ही है। एक बंधन ही है—जो कि समय है। इसलिए मैं इसे छूने से इंकार करता हूं। मैं इसका स्पर्श इसलिए नहीं करूंगा क्योंकि मैं इस कोने का स्वभाव, उसकी बनावट और उसकी अव्यवस्था को देखता हूं। मेरे लिए इस छोटे से घेरे का कोई मतलब नहीं—जबकि एक खूबसूरत सूरज मौजूद हो। इस सूरज के सामने सारी सिद्धियां या शक्तियां ढेर सारी मोमबत्तियों की तरह ही हैं।

क्या मन इसे सुनते हुए यह सब कुछ मिटा सकता है? सुनना ही मिटा डालना है। तब तो यह आपका है। तब वहां अवधान, प्रेम—सब कुछ है। आप देखें, तार्किक रूप से यही टिकता है, और कुछ नहीं। मस्तिष्क का काम ही यही है कि वह सही और गलत का पता लगाए; और गलत को गलत की तरह देखे। देखिए, जैसे बालक 'के' ने सत्य को देखा, तो सब कुछ समाप्त हो गया। उसने सारे संगठन वगैरह छोड़ दिए। उसे देखने के लिए कोई प्रशिक्षण नहीं दिया गया था।

पुपुल जयकर : लेकिन आपको तो प्रशिक्षण मिला था। शरीर के लिए आपको एक सख्त प्रशिक्षण से गुजरना पड़ा था।

कृष्णमूर्ति : लोग ऐसा ही कहते हैं। क्योंकि शरीर की उपेक्षा हुई थी तो लोगों ने कहा कि यदि इसकी देखभाल न की जाए तो यह बीमार पड़ सकता है।

पुपुल जयकर : लेकिन सर, इस शारीरिक अनुशासन के अलावा भी उस बालक की परवरिश को लेकर नियम बनाए गए थे।

कृष्णमूर्ति : आसन और प्राणायाम बस ऐसे ही थे जैसे कि बालों में कंधी करना, यह उसी स्तर तक सीमित था।

पुपुल जयकर : यह बहुत ही सूक्ष्म है। मैं यह नहीं कह रही कि जो कुछ हुआ उसका संबोधि के साथ कोई रिश्ता है। लेकिन शरीर का ख्याल रखना भी जरूरी है।

कृष्णमूर्ति : हां, शरीर को स्वस्थ रखना जरूरी है।

पुपुल जयकर : सर, यदि मैं ऐसा कह सकूँ कि आपके तौर-तरीके किसी योगी जैसे हैं, आपकी भावभंगिमा भी किसी योगी जैसी ही है। आप कई वर्षों से रोज आसन और प्राणायाम करते आ रहे हैं! ऐसा क्यों?

कृष्णमूर्ति : वह महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह अपने नाखून साफ रखने जैसा है। उपकरण को सटीक बनाने के लिए सालों बिता देना बहुत ही बचकाना है। आपको बस 'देखना' भर है।

पुपुल जयकर : लेकिन यदि कोई अंधा ही पैदा हुआ हो तो? सिर्फ जब आप जैसा कोई कहता है, "देखो"—तभी कुछ होता है। अधिकांश लोग तो समझेंगे ही नहीं कि आप किस बारे में बात कर रहे हैं?

कृष्णमूर्ति : अधिकांश लोग यह सब नहीं सुनेंगे। वे इसे एक ओर हटा देंगे। आप देखें, मेरी इसमें बहुत ज्यादा दिलचस्पी है। 'के' के मन ने इस मासूमियत को कैसे बनाए रखा है?

पुपुल जयकर : आप जो कह रहे हैं वह प्रासंगिक नहीं लगता। हो सकता है आप अपवाद हों। बालक कृष्णमूर्ति यहां तक कैसे पहुंचा? उसके पास पैसा, संस्था सब कुछ था और फिर उसने सब छोड़ दिया। यदि मैं अपनी नातिन को आपके साथ छोड़ दूँ और आपके अलावा उसका और कोई भी संगी-साथी न हो तब भी वह इसे नहीं पाएगी।

कृष्णमूर्ति : नहीं, वह नहीं पाएगी। (एक अन्तराल) मिटा दो यह सब।

पुपुल जयकर : जब आप यह कहते हैं तो यह उस ज़ेन सूत्र के जैसा

है—बत्तख का बोतल के बाहर निकलना। क्या आपके पास मिटाने के लिए कोई केन्द्र था भी?

कृष्णमूर्ति : नहीं।

पुपुल जयकर : इसका मतलब आपका कोई ऐसा केन्द्र था ही नहीं जिसे मिटाना पड़े। आप अनूठे हैं और इसलिए एक विलक्षण घटना हैं। आप हमें यह नहीं बता सकते—मैंने ऐसा किया और इसलिए ऐसा हो गया। आप केवल यह बता सकते हैं कि यह 'वह' नहीं है। हम यह देख पा रहे हैं। भले ही हमें संबोधि प्राप्त न हुई हो लेकिन हम अप्रबुद्ध भी नहीं हैं।

कृष्णमूर्ति : मैं सोचता हूँ कि यह देखना बहुत ही दिलचस्प है कि विचार समय है। विचार स्मृति है और वह हर चीज जिसे विचार छूता है, वास्तविक नहीं है।

नई दिल्ली 1970, ट्रेडीशन एंड रेवलूशन'  
अनुवाद : अमित प्रताप सिंह



## विचार की परंपरा

आगन्तुक: 'यदि मैंने ठीक समझा है तो आप कह रहे थे कि परंपरा एक स्थिरता ला सकती है। बिना कुछ सोचे-विचारे हम इस धारणा को स्वीकार कर लेते हैं कि हम अलग-अलग व्यक्ति हैं। जब मैंने इस बारे में और विचार किया—यानी बौद्धिक, तार्किक ढंग से सवाल-जवाब करना—यह कुछ ऐसा था कि मैं अपने साथ ही विचार-विमर्श कर रहा था। मुझे यह दिखाई दे रहा है कि जिस खूबसूरत संसार में हम रह रहे हैं उसके साथ हमने क्या किया है। काफी सोच-विचार करने के बाद मैं सचमुच आपकी बातों की गहराई को समझ पा रहा हूँ। मैं यहां वास्तव में मृत्यु के बारे में जानने आया था लेकिन स्वयं से होकर मृत्यु के प्रश्न तक पहुंचने की अहमियत को मैं अब देख पा रहा हूँ।'

कृष्णमूर्ति: जैसा कि हम उस दिन कह रहे थे कि सूरज की रोशनी को हम, पूरी मानवता साझा करते हैं; वह रोशनी आपकी या मेरी नहीं है। वह जीवनदायिनी ऊर्जा है जिसे हम सभी ग्रहण करते हैं। हमारी चेतना—जिसमें शामिल हैं हमारी प्रतिक्रियाएं, हमारे विचार, धारणाएं और आदर्श, विचारधाराएं, भय, सुख, आस्थाएं, उन चीजों की आराधना जिनको हमने ही प्रक्षेपित

किया है, हमारे दुख, संताप और पीड़ाएं—यह सारा कुछ सभी मनुष्य साझा करते हैं। जब हम दुख भोगते हैं तो उसे व्यक्तिगत मसला बना लेते हैं। मानवता के समस्त दुख से हम खुद को अलग कर लेते हैं। जैसे कि सुख, जिसे हम एक निजी वस्तु की तौर पर लेते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि आदमी—निश्चय ही जिसमें औरतें भी शामिल हैं, अनादि काल से दुख भोगता आया है। यह दुख ही वह भूमि है जिस पर हम सभी खड़े हैं।

तो हमारी चेतना मेरी या आपकी नहीं है; यह मानव की चेतना है, जो धीरे-धीरे विकसित हुई है। उस चेतना में है आस्था, भगवान और वे सारे विधि-विधान जिनका मानव ने आविष्कार किया है। यह सारी विचार की गतिविधि है। विचार ही ने चेतना में समाई इन सारी चीजों का निर्माण किया है : व्यवहार, क्रिया, संस्कृति, अभीप्सा। और यह चेतना ही स्व है, “मैं” है, अहं है, व्यक्तित्व है। मैं समझता हूं कि इस बात को केवल वाद-विवाद या तर्क की दृष्टि से नहीं बल्कि बहुत ही गहराई से समझने की आवश्यकता है, उसी प्रकार जैसे कि खून हम सभी में दौड़ रहा है, हमारा अंश है। जब हम यह महसूस करते हैं तब हमारी ज़िम्मेदारी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। जब तक हमारी चेतना की सामग्री मौजूद है तब तक विश्व में जो कुछ भी हो रहा है उसके लिए हम जिम्मेवार हैं। जब तक भय मौजूद है, राष्ट्रीयताएं मौजूद हैं, सफल होने की लालसा मौजूद है, हम मानवता की सामान्य धारा के हिस्से बने हुए हैं। इसे समझना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है : स्व, “मैं” विचार की संरचना है। विचार न आपका है, न मेरा; विचारणा व्यक्तिगत नहीं है। यह सभी मनुष्यों में समान है। और जब हम वास्तव में गहराई से इसके तात्पर्य को समझ लेते हैं तब मुझे लगता है कि हम मृत्यु के आशय को समझ सकते हैं।

कृष्णमूर्ति टु हिमसेल्फ  
अनुवाद : मुकेश गुप्ता



राजेश जी का  
हमारे बीच  
न होना...

गत 25 फरवरी, 2014 की सुबह एक अप्रत्याशित सूचना ने हम सबको अवाक कर दिया: राजेश दलाल जी का पुणे के निकट तलेगांव में आकस्मिक हृदयाघात से मध्यरात्रि में निधन हो गया। वह 61 वर्ष के थे। मृत्यु इतने अप्रत्याशित ढंग हमारे सामने आ खड़ी होती है कि उसके लिए शायद ही हम तैयार होते हैं।

राजघाट शिक्षण संस्थान से राजेश जी का जुड़ाव सन् 1976 से शुरू होता है जब वह पहली बारी कृष्णमूर्ति को सुनने के लिए वाराणसी आए थे। एक शिक्षक के रूप में राजघाट बेसेंट स्कूल से जुड़ने के बाद उन्होंने अपना पूरा जीवन कृष्णजी की शिक्षाओं के लिए समर्पित कर दिया। उन्होंने ऋषिवैली स्कूल, आन्ध्रप्रदेश में भी पढ़ाया तथा वसन्त विहार, चेन्नई के स्टडी सेंटर को विकसित करने में अहम भूमिका निभाई। उत्तरकाशी स्थित नचिकेत स्कूल का उत्तरदायित्व भी कई वर्षों तक उठाया। राजघाट शिक्षण संस्थान के रेक्टर के तौर पर वह 2002 से 2007 तक रहे। पिछले कुछ वर्षों से वह पुणे के निकट तलेगांव में रहते हुए कुछ मित्रों के साथ मिलकर अपने एक एजुकेशनल प्रोजेक्ट को आकार दे रहे थे।

राजेश जी के संपर्क में जो कोई भी आता था वह उनकी त्वरा, खोजबीन की उत्कटता, शिक्षाओं की सूक्ष्मता गहराइयों में उतरते जाने की उनकी अनथक मांग से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता था। ऐसे मौलिक अन्वेषक को हम सब की भावभीनी श्रद्धांजलि।

### **राजघाट में कृष्णमूर्ति स्टडी रिट्रीट :**

**31 अगस्त-3 सितंबर 2014**

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर, वाराणसी में 31 अगस्त से 3 सितंबर, 2014 के बीच एक स्टडी रिट्रीट/अध्ययन शिविर का आयोजन किया जा रहा है। अध्ययन शिविर की थीम है : स्वयं को जानना एवं अवधान/ Self-knowledge and Attention

स्टडी रिट्रीट/अध्ययन शिविर का उद्देश्य है जे. कृष्णमूर्ति की शिक्षाओं के प्रकाश में हमारे दैनिक जीवन से जुड़े बुनियादी सवालों की छानबीन करना। शिविर के दौरान इन विषयों से जुड़ी वार्ताएं होंगी, पारस्परिक संवाद होंगे एवं जे. कृष्णमूर्ति की वार्ताओं के वीडियो भी दिखाए जाएंगे। रजिस्ट्रेशन के लिए संपर्क करें :

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर, राजघाट फोर्ट, वाराणसी 221001

ईमेल : kcentrevns@gmail.com

### **‘स्वयं से संवाद’ के लिए सहयोग**

जे. कृष्णमूर्ति की शिक्षाओं को हिंदी में उपलब्ध कराने के लिए ‘स्वयं से संवाद’ नामक पत्र का वर्ष में दो बार प्रकाशन किया जा रहा है और लगभग 5000 पाठकों तक इसे निःशुल्क पहुंचाया जा रहा है। हमारा प्रयास है कि इसे ज़्यादा से ज़्यादा पाठकों तक पहुंचाया जा सके। यदि आप इसके प्रकाशन में वित्तीय सहयोग देने के इच्छुक हैं तो संपर्क करें :

संपादक, ‘स्वयं से संवाद’, कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर,

राजघाट फोर्ट, वाराणसी 221001

फोन: 0542-2441289 ईमेल : kcentrevns@gmail.com

## आपके क्षेत्र में कृष्णमूर्ति इनफॉर्मेशन सेंटर

यदि आप कृष्णमूर्ति शिक्षाओं में गहरी रुचि रखते हैं तथा अपने शहर, संस्थान या क्षेत्र में कृष्णमूर्ति इनफॉर्मेशन सेंटर ('सूचना केंद्र') की शुरुआत करने के इच्छुक हैं तो कृपया हमसे संपर्क करें। आप अपने 'केंद्र' से इन गतिविधियों का संचालन कर सकते हैं: कृष्णमूर्ति की पुस्तकें लोगों को पढ़ने एवं विक्रय के लिए उपलब्ध कराना; कृष्णमूर्ति फाउंडेशन से प्रकाशित पत्रिकाओं से आप लोगों का परिचय कराना; अपने क्षेत्र में लगने वाले पुस्तक मेलों में कृष्णमूर्ति की पुस्तकों को उपलब्ध कराना; अपने केंद्र में कृष्णमूर्ति की वार्ताओं के वीडियो दिखाना तथा शिक्षाओं के आलोक में जीवन से जुड़े बुनियादी प्रश्नों पर पारस्परिक संवाद आयोजित करना। किसी भी प्रकार के सहयोग के लिए आप इन पतों पर संपर्क कर सकते हैं :

कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, वसन्त विहार, 124 ग्रीनवेज़ रोड,  
आर.ए. पुरम, चेन्नई 600 028 ईमेल : info@kfionline.org

कृष्णमूर्ति स्टडी सेंटर, राजघाट फोर्ट, वाराणसी 221001  
फोन: 0542-2441289 ईमेल : kcentrevns@gmail.com

### कॉपीराइट सूचना

जे. कृष्णमूर्ति के उद्धरण अंतर्राष्ट्रीय कॉपीराइट नियम के अंतर्गत संरक्षित हैं तथा सर्वाधिकारी की लिखित पूर्वानुमति के बिना किसी भी रूप में पुनः प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। सन् 1968 के पूर्व की कृष्णमूर्ति की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ऑफ अमेरिका, ओहायो, कैलीफोर्निया का है। सन् 1968 के बाद की रचनाओं का कॉपीराइट कृष्णमूर्ति फाउंडेशन ट्रस्ट, ब्रॉकवुड पार्क, इंग्लैंड का है।

'कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया' के लिए प्रकाशक, मुद्रक प्रो. पी. कृष्णा द्वारा सत्तनाम प्रिंटिंग प्रेस, एस-1/208 के-1, नयी बस्ती, पांडेयपुर, वाराणसी 221 002 से मुद्रित एवं कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया, राजघाट फोर्ट, वाराणसी 221 001 (उ.प्र.) से प्रकाशित।

संपादक : चैतन्य नागर